अध्यात्मतत्त्वविज्ञान-ग्रन्थमाला-२

तन्मात्र तथा विश्व का मनोमय मूल

(अध्यात्मशास्त्रीय विश्लेषण)

मित्रवर डा० नवजीवन रस्तोगी जी को
सप्रेम भेंट -

रामशंकर भट्टाचार्य
13/103 Sonarpura, Varanasi

प्रसिद्ध दार्शनिक डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री (Director, Institute of Indology, Delhi) तथा वैज्ञानिक मनीषी डा० द्विजेन्द्रलाल भट्टाचार्य (College of Science, B. H. U.) के प्राक्कथन एवं Prefatory Note के साथ

कापिलमठाचार्य-लब्धयोगज्ञान

श्री रामशंकर भट्टाचार्य

एम० ए; पी एच० डी०; व्याकरणाचार्य

The Vyasa-Bhasya

With the commentary Jyotismati

by Dr. Ram Shankar Bhattacharya

The Vyasabhasya on the Yogasutra of Patanjali is one of the fundamental sources of the wisdom of the sages of ancient India. The bhasya can be confidently dated between 400–300 B. C., thus after the passing of the Buddha (502 B. C.) but before the beginning of the Christian era.

The new commentary by Dr. Bhattacharya has a special purpose. It tries to discover the original sense of all important expressions by reference to ancient Sanskrit works. The commentator has tried to quote parallel lines from various sources, thus helping the reader to understand the text in the light of literature which is more or less contemporary with it.

All conflicting explanations given by the various commentators (including the commentators on the Yogasutra) have been examined, and the commentator has given his own view on the basis of ancient passages. Knotty points in the Sanskrit commentaries have been discussed, and problems relating to the fields of Mimamsa, Vyakarana and Nyaya are elucidated with profuse quotations from original sources.

Dr. Bhattacharya has also frequently cited the results of investigations by modern physicists, biologists, psychologists and physiologists to explain and corroborate the statements in the bhasya.

अध्यात्मतत्त्वविज्ञान-ग्रन्थमाला—२

तन्मात्र तथा विश्व का मनोमय मूल

बाह्य भौतिक विषयों का पञ्चभूत एवं पञ्चतन्मात्र में
विश्लेषण, विश्लेषण की प्रयोग-परीक्षण-संगत उपपत्ति,
तन्मात्र के ध्यानज साक्षात्कार की पद्धति
तथा विश्व के मूलभूत वस्तु की मनोरूपता—
ये विषय इस ग्रन्थ में विचारित हुये हैं

कापिलमठाचार्यलब्धयोगज्ञान
रामशंकर भट्टाचार्य
एम० ए०; पी एच० डी०: व्याकरणाचार्य

प्रकाशक
दि एस्ट्रोलॉजिकल रिसर्च हाल
१३४ हौज कटरा, वाराणसी

लेखक की ओर से

दि एस्ट्रोलॉजिकल रिसर्च हाल,

१३४ हौज कटरा, वाराणसी

द्वारा प्रकाशित ।

मूल्य—एक रुपया

प्रथम संस्करण १९७० ई०

मुद्रक

जय भारत प्रेस

बांसफाटक, वाराणसी.

लेखक का निवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थ अध्यात्मतत्त्वविज्ञान ग्रन्थमाला का द्वितीय ग्रन्थ है। इस माला का प्रथम ग्रन्थ "निद्रा या सुषुप्ति" को पढ़कर विभिन्न विद्वानों ने मुझे जिस उदार मनोभाव से अभिनन्दित किया, उससे मैं बहुत ही उत्साहित हुआ। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि अध्यात्मविद्या को यथार्थरूप से शिक्षित व्यक्तियों के सामने रखा जाय, तो यह ज्ञान विचारकों को अवश्य ही आकृष्ट करेगा। 'निद्रा या सुषुप्ति' के विषय में कुछ समीक्षकों ने यह कहा था कि प्रायेण इसमें युक्ति और मत इतने अल्प शब्दों में रखे गये हैं कि कहीं-कहीं वे शब्द अस्पष्ट हो गये हैं। यही कारण है कि इस तन्मात्र ग्रन्थ को लिखने के समय मैंने विस्तार पर ध्यान दिया है, जिसका फल यह है कि ग्रन्थ में क्वचित् पुनरुक्तियाँ भी मिल सकती हैं।

'अध्यात्मतत्त्वविज्ञान-ग्रन्थमाला' की रचना का एक उद्देश्य है; वह है बाह्यजगत् तथा मनोजगत् का विश्लेषण अध्यात्मतत्त्वविद् ऋषियों ने जिस पद्धति से किया था, उस पद्धति से शिक्षित पाठकों का परिचय कराना।[1] दीर्घकाल से मैं देखता हुआ आ रहा हूँ कि अध्यात्मज्ञान पर

---

१. मैंने सोचा था कि मैं इस कार्य को प्रधानतः हिन्दी भाषा के माध्यम से ही करूँगा। हिन्दीक्षेत्र की हिन्दीभाषी जनता में इस ओर जो उपेक्षा और उदासीनता मैंने देखी है, साथ ही अंग्रेजी में लिखित ग्रन्थों के प्रति जो प्रामाण्यबुद्धि मेरे देखने में आयी है, इससे अपने कार्य को प्रधानतया अंग्रेजी में लिखने के लिये मुझे बाध्य होना पड़ रहा है। हिन्दी के प्रचार कामी सज्जनों को इस सत्य पर ध्यान देना चाहिये।

निराधार आक्षेप सर्वत्र किया जा रहा है। आक्षेप का एक हेतु यह भी है कि बाह्य एवं मानस पदार्थों के विषय में अध्यात्मज्ञान को कभी-कभी अवैज्ञानिक रूप से भी शिक्षित जनों के सामने उपस्थित किया जाता है। जड़जगत् एवं मनोजगत् के विश्लेषण के क्षेत्र में विभिन्न दार्शनिक संप्रदाय कुछ ऐसी बातें करते हैं कि जडविज्ञानविद् व्यक्ति उन बातों पर हँसे विना रह नहीं सकते। विभिन्न विश्वविद्यालयों के विज्ञानाध्यापकों के साथ बातचीत करने पर मुझे ऐसा ही ज्ञात हुआ है। इस कलंकित स्थिति से अध्यात्मविद्या की रक्षा करना मेरा परम उद्देश्य है।

अध्यात्मतत्त्वज्ञान अपने प्रकृत स्वरूप में गंभीर, युक्तियुक्त, प्रयोग-परीक्षणगम्य एवं सर्वव्यापी है। अध्यात्मशास्त्रीय विचारपद्धति का स्वरूप कैसा है, यह विस्तार के साथ "भूमिका" में दिखाया गया है;

तन्मात्र विचार के कुछ ऐसे अंश हैं, जिनका सम्बन्ध पञ्चभूत एवं सृष्टिप्रक्रिया के साथ है; भूततत्त्व एवं ब्रह्माण्डसृष्टि का प्रतिपादन पृथक् ग्रन्थ में किया गया है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा। इस ग्रन्थ के द्वारा तन्मात्र-विचार की पूर्णता होगी, अतः कृपालु पाठक इस ग्रन्थ की प्रतीक्षा करें।

इस ग्रन्थ के प्राक्कथन के लेखक दार्शनिक प्रवर डॉ॰ धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री Directcr, Institute of Indology, New Delhi तथा Prefatory Note के लेखक प्रसिद्ध विज्ञानाध्यापक डॉ॰ द्विजेन्द्रलाल भट्टाचार्य (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। मेरा विश्वास है कि जिस दिन अधुना प्रचलित बहुविध शास्त्र, विशेषतः विज्ञानशास्त्र की विभिन्न शाखाओं के विद्वान् अध्यात्मविद्या के विभिन्न अंगों की चर्चा करेंगे, उसी दिन इस विद्या का सुव्यवस्थित अनुशीलन एवं प्रसार होगा। यह आवश्यक कार्य है। विश्व में यदि हमें उन्नतशीर्ष होकर चलना है कि तो हमें बाह्य ज्ञान के उत्कर्ष के साथ-साथ अध्यात्मज्ञान के अध्ययन पर भी बल देना होगा। आज यदि हम बिश्व को मूल्यवान् कुछ दे सकते हैं तो इस अमृतोपम अध्यात्मविद्या को ही दे सकते हैं। खेद है कि हम अपनी अज्ञता

और चित्तचाञ्चल्य के कारण अपने को दीन-हीन के रूप में समझते हैं और पृथिवी में दास के रूप में समझे जाते हैं। एक दृष्टान्त लें—

कुछ दिन पहले Tennessee University (U. S. A.) के एक Assistant Professor (Dr. G. J. Larson) को सांख्यशास्त्र पढ़ाने का सुयोग मिला था। उस अध्यापक ने मुझसे कहा था कि जब वे दिल्ली आये थे, तो एक भारतीय अफसर (जिसके अंग्रेजी-उच्चारण की बहुत प्रशंसा वे करते थे) ने उनसे कहा था कि जब हम भारतीय लोग अध्यात्मविद्या को देश से हटाना चाहते हैं तब आप लोग क्यों वेदान्त, योग आदि शास्त्रों के लिये इस देश में आते हैं ? यह है हमारी स्वतन्त्रता !!

मुझे यह सूचित करते हुये हर्ष होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के लिये आवश्यक कागज 'कल्याण' (गीताप्रेस, गोरखपुर) परिवार के आदरणीय सन्त श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार जी से दान के रूप में मिला है। उनकी इस उदारता के लिये मैं कृतज्ञ हूँ। हिन्दुसंस्कृतिप्रेमी आर्षज्ञान-प्रचारकामी आदरणीय बन्धुवर श्री वीरभद्र मिश्र (रीडर, हिन्दूविश्वविद्यालय) जी ने इस ग्रन्थ के मुद्रण का अधिकांश व्यय दिया है, तदर्थ उनको धन्यवाद देना मेरा कर्तव्य हो जाता है।

मेरा सौभाग्य है कि काशी का सुप्रसिद्ध संस्थान 'एस्ट्रोलजिकल रिसर्च हाल' पूर्वग्रन्थ की तरह इस ग्रन्थ का भी प्रकाशक है। इस संस्था के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकटित कर रहा हूँ।

मैंने अपने परमाराध्य आचार्य स्वामी हरिहरानन्द आरण्य के ग्रन्थों एवं उपदेशों की सहायता इस ग्रन्थ में सर्वत्र ली है, तदर्थ उनके प्रति मेरी प्रणति है।

इस ग्रन्थ में कथित विचारों पर यदि पाठकों को कोई संशय होता हो या कोई अस्पष्टता प्रतीत होती हो तो वे मुझे लिखें। इस ज्ञान के उपबृंहण में पाठकों के पत्र हमारे परम सहायक हैं।

रामनवमी
(१५।४।१९७०)

रामशंकर भट्टाचार्य
१३।१०२ सोनारपुरा
वाराणसी—१

Institute of Indology, Delhi के Director
डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का प्राक्कथन

इस विश्व को बनाने वाली कोई चेतनशक्ति है या नहीं, इस प्रश्न के अतिरिक्त भी, प्राचीन युग में संसार के सारे दर्शनशास्त्र में और आधुनिक युग के विज्ञान के क्षेत्र में यह एक मौलिक प्रश्न बना हुआ है कि इस विश्व का उपादानभूत मूल तत्त्व क्या है ? प्राचीन युग में पञ्चभूत से बनी हुई यह सृष्टि मानी गई थी और फिर कालान्तर में पञ्चभूतों के मूलरूप परमाणु की भी कल्पना हुयी।

आधुनिक विज्ञान में भी यह प्रश्न जटिल बन रहा है। मूल उपादान मैटर (matter) तथा शक्ति (energy) की कल्पना की गई। मैटर का मूलरूप परमाणुओं के रुप में माना गया और इस प्रकार के १०० से अधिक प्रकार के परमाणु खोज निकाले गये। परन्तु आधुनिक विज्ञान ने परमाणु के भी टुकड़े कर डाले और यह स्थापित हो गया कि एक प्रकार के परमाणु दूसरे प्रकार के परमाणुओं में बदल सकते हैं और इस प्रकार मूल तत्त्व एक ही प्रकार का है और मैटर तथा इनार्जी का भी भेद समाप्त हो गया। परन्तु इस मूल तत्त्व का क्या स्वरूप है, यह बात कम से कम वर्तमान युग में आधुनिक विज्ञान की खोज से भी बाहर की बात बनी हुई है।

भारतीय दार्शनिकों में से सांख्य ने पञ्चभूतों के मूलरूप की कल्पना पञ्चतन्मात्राओं के रूप में की थी; वेदान्त ने पञ्चभूतों को पञ्चीकृत (अर्थात् प्रत्येक भूत में अन्यों का संमिश्रण) मानकर उनके मूल रूप अपञ्चीकृत भूतों की कल्पना की थी। वे अपञ्चीकृत भूत भी सांख्य की पञ्चतन्मात्राओं से मिलते जुलते हैं।

इन पञ्च तन्मात्राओं का वास्तविक मूल स्वरूप क्या हो सकता है, इस विषय पर श्री डा० रामशंकर भट्टाचार्य ने, जिन्होंने भारतीय दर्शन पर अनेक बहुमूल्य ग्रन्थ लिखे हैं, मौलिक खोज की है, जिसके परिणाम स्वरूप "तन्मात्र तथा विश्व का मनोमय मूल" नामक खोजपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। मुझे विश्वास है कि इस ग्रन्थ के द्वारा इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में विचार करने के लिये नयी प्रेरणा प्राप्त होगी। इस लिये मैं इस पुस्तक का हार्दिक स्वागत करता हूँ।

१२।४।७०

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री

PREFATORY NOTE

Several discussions with Sri Ram Shankar Bhattacharya has convinced me that there is very little basic differenee between Physics and the Sankhya system as far as experimentally verifiable properties of matter are concerned. Beyond this, Physics today has very little to say, while the Sankhya scholars, by logical steps of reasoning reach the conclusion that nature, as we observe it, has as its elementary and fundamental constituent a mind-like stuff. This is beyond the limits of experimental verification, even with the most precise apparatus available to us. But it cannot be denied that it is impossible for us to reject the Sankhya-system on this basis alone. This is because the reasoning advanced is highly logical and consistent. I have the feeling that an intellectually satisfying exposition of the wave-particle duality in Physics will be possible through this system.

I congratulate the author for a most lucid and intelligible discussion of the subtle points of this philosophy and particulary for his clear presentation of a most involved part of the Sankhya system. I am sure both scientists and non-scientists will find points that arouse their curiosity and demand from them a rethinking of their ideas on allied topics.

D. L. Bhattacharya,
M. Sc; Ph. D. (Maryland, U. S. A.)
Reader in Physics,
College of Science
Banaras Hindu University.

12-10-1969

विषयसूची

भूमिका

१—दीर्घकाल से इस देश में पञ्चभूत और पञ्चतन्मात्र तत्त्व उपहास के विषय बने हुए हैं। प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में इन विषयों पर स्पष्ट वाक्य कदाचित् ही मिलते हैं; उन सूक्ष्मार्थक वाक्यों से आज के लोगों को विशेष लाभ नहीं होता, इसलिये मुझे उन सूक्ष्मार्थक लघु वाक्यों के स्पष्टीकरण के लिये तन्मात्र विषयक प्रस्तुत ग्रन्थ को लिखना पड़ा। पाठक देखेंगे कि इस ग्रन्थ में प्राचीन आर्ष मत और दृष्टियों को युक्ति-संगत तथा प्रयोगपरीक्षण-युक्त के रूप में उपस्थापित करने की चेष्टा की गई है। ग्रन्थ को लिखने के समय मैंने शास्त्रीय चिन्ता के प्रमाणीकरण पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है; शोधनिबन्धरचना की तरह प्रमाण-वाक्यों का संकलन कर मतों का प्रतिपादन मात्र करना इस ग्रन्थरचना का उद्देश्य नहीं है। पर जो कुछ भी लिखा गया है, उसके पीछे शास्त्रवाक्य अवश्य ही हैं।

२—प्राचीन शास्त्रों के वाक्य बहुगूढ़ार्थ-ज्ञापक, अल्पाक्षर तथा पूर्वापर-सन्दर्भ से संपृक्त होते हैं; किसी एक पदार्थ को लेकर एक प्रकरण में ही उसका सर्वांगीण विचार करना रूप शैली प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलती। विभिन्न प्रकरणों में एक ही वस्तु से संबन्धित विभिन्न पक्ष विचारित होते हैं। अनेक तथ्य अर्थापत्तिप्रमाण, अधिकरणसिद्धान्त, अभ्युपगमसिद्धान्त तथा तन्त्रयुक्तियों की सहायता से ही विज्ञेय होते है; कुछ को धर्मिग्राहकमान

से समझना पड़ता है; साक्षात् रूप से इन अनुक्त तथ्यों का प्रतिपादन प्राचीन ग्रन्थों में शायद ही मिलता हो।

जिन युक्ति-परम्पराओं की सहायता से किसी मत को पूर्वाचार्य कहते हैं, उस युक्तिपरम्परा का पूर्ण विवरण कदाचित् ही मिलता है। युक्तिपरंपरा का आंशिक उल्लेख देखकर अवशिष्ट युक्ति का या वस्तु के अनुक्त गुणों का ऊहन करना पड़ता है। शब्दतः उल्लेख न मिलने के कारणमात्र से कोई पदार्थ या मत अस्वीकार्य है, यह कहना असंगत है। अध्यात्मशास्त्र के अनेक गौण (पर अत्यावश्यक) पदार्थ, पदार्थों के गुणकर्म तथा युक्ति एवं मत प्रचलित ग्रन्थों में नहीं मिलते ; कहीं मिलते भी हैं तो अंशतः ही। यह अध्यात्मविद्या गुरु-शिष्यपरम्परा में ही अधीत-अध्यापित होती रही है, और इस प्रणाली में एक भी अनुक्त विषय शिष्य को अज्ञात नहीं रह जाता[1]। अनुक्त विषय के ऊहन संबन्धी शास्त्रीय चिन्ताओं के विशदीकरण के लिये मेरा लेख "शास्त्रीय अनुक्ति का रहस्य' (शोधपत्रिका ९।४) द्रष्टव्य है। अभी हाल में (२०।२।१९७०) ही सांख्य-शास्त्रीय अनुक्त मतों एवं पदार्थों पर मैंने एक व्याख्यान विश्वभारती विश्व-विद्यालय के संस्कृतविभाग में दिया है। यह व्याख्यान उपबृंहित होकर शीघ्र ही प्रकाशित होगा। युक्ति, प्रयोग एवं परीक्षणों की सहायता से ग्रन्थों में अनुक्त या अंशतः उक्त तथ्यों का ज्ञान कैसे किया जा सकता है, इसके कई उदाहरण प्रस्तुत ग्रन्थ में भी प्राप्त हो सकते हैं।

---

१. प्रचलित ग्रन्थों में युक्तियों का पूर्णस्वरूप प्रायेण दिखाई नहीं पड़ता। युक्ति का बोधक जो शब्दावली है, उसका अर्थ मात्र ही उस युक्ति का पूर्ण रूप नहीं है। यथा—पुरुष के बहुत्व की सिद्धि के लिये 'जन्मप्रतिनियम' रूप युक्ति सांख्यकारिका में दी गई है (१८ का०)। पुरुष का चूँकि जन्म नहीं होता, इसलिये जन्म पर आश्रय कर पुरुष का बहुत्व सिद्ध करना असमीचीन है, ऐसा कई आधुनिक विद्वान् कहते हैं (द्र० History of Philosophy-Eastern and Western, पृ० २५३)। इन विद्वानों ने यह सोचने का कष्ट नही किया

३—तन्मात्र ग्रन्थ के प्रणयन के पीछे एक मनोवेदना है। आजकल के अनेक उच्चशिक्षित व्यक्ति—जिनकों किन्हीं कारणों से अध्यात्मशास्त्रीय पदार्थ और मतों को जानने का सुयोग नहीं हुआ या जिनको जानने की इच्छा ही नहीं हुई—समाज में प्रतिष्ठित होकर अपने लेख-ग्रन्थ-व्याख्यानों में अध्यात्मशास्त्रीय पदार्थ और मतों का यदा-कदा उल्लेख (खण्डन करने की दृष्टि से या प्राचीनज्ञान को आधुनिकज्ञान की तुलना में दोषयुक्त दिखाने के उद्‌देश्य से) करते रहते हैं; ईदृश उल्लेख प्रायेण भ्रमपूर्ण ही होते हैं, जिससे हमारी प्राचीन अध्यात्मविद्या सर्वत्र उपहसित एव अमर्यादित होती है।

विज्ञानशास्त्र के भारतीय विद्वान् द्वारा लिखित ग्रन्थों में पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्र आदि की असंगति कभी-कभी दिखाई गई है। मुझे यह मनोवृत्ति बहुत ही दूषित जान पड़ती है। अंग्रेजों के राज्य में उच्च नौकरी प्राप्ति आदि लोभ के कारण शिक्षित जन भारतीय इतिहास एवं दर्शन को कदर्थित करते ही थे (जिससे शासक प्रसन्न होकर उनको 'अपने सहायक' समझकर उच्च पदों में नियुक्त करते थे या अन्य संमान देते थे), पर स्वतन्त्र भारत में भी वही मनोवृत्ति ज्यों की त्यों विद्यमान है, यह देखकर मेरे चित्त में क्लेश होता है। मैं इसका प्रतिवाद करता हूँ; इस प्रतिवाद को मूर्त रूप देने के लिये ही यह तन्मात्रग्रन्थ और पूर्व प्रकाशित निद्रापरक ग्रन्थ लिखे गये हैं तथा आगे भी अनेक ग्रन्थ लिखे जायेंगे।

स्वतन्त्रता के बाद कुछ अध्यात्मतत्त्वज्ञानप्रेमी व्यक्तियों में प्राचीन ज्ञान की यथार्थता को जानने के लिये इच्छा उत्पन्न हुई है, यह देखा जाता

कि जन्मप्रतिनियम, मरणप्रतिनियम तथा करणप्रतिनियम ये तीन शब्द पूर्ण युक्तिधाराओं के सूचक हैं। किसका जन्म है तथा प्रतिनियम क्या है—ये सब विषय कारिकोक्तशब्द मात्र से जाने नहीं जाते, सांख्यीय चिन्ताधारा को समझने से ही इस युक्ति का पूर्णस्वरूप समझमें आ सकता है। जन्मप्रतिनियम आदि शब्द युक्ति के सूचकमात्र हैं। ऐसी स्थिति सभी दर्शनों में है।

है। ईदृश सज्जनों के साथ विचारविमर्श करने से भी अनेक आवश्यक तथ्य ज्ञात होते हैं तथा यह भी ज्ञात होता है कि आर्षज्ञान के किस अंश में अस्पष्टता है। जिन विद्यासंस्थाओं ने इस ज्ञानार्जन के लिये मुझे विभिन्न समय में सुयोग दिया है, उनके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। Post-Graduate Institute of Indian Medicine (B. H. U.) के अन्तर्गत Department of Basic Principles के अधिकारियों ने पञ्चभूत संबन्धी आलोचना करने का जो सुयोग मुझे नवम्बर ६९ में दिया था उससे मुझे पर्याप्त लाभ हुआ है।

भूत-तन्मात्र पदार्थ पर दीर्घकाल से जो अज्ञता चली आ रही है वह इस ग्रन्थ से दूर होगी तथा इस तत्त्वज्ञान पर उपहास करना बन्द होगा—यह मैं समझता हूँ [1]।

४—पूर्वोक्त प्रवृत्ति का उदाहरण लें :—'प्रवेशिका रसायन' ग्रन्थ में कहा गया है—"प्राचीन काल के विचारक क्षिति, जल, पावक, व्योम और वायु को मौलिक पदार्थ मानते थे.... बाद में यह पता चला कि इन पाँचों में से कोई भी तत्त्व नहीं है, क्योंकि.... मिश्रण है" (पृ० ५७)।

इसी प्रकार काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के College of Science के कुछ अध्यापकों द्वारा लिखित The Nature of the Physical World ग्रन्थ में अनावश्यक रूप से भूततत्त्व के खण्डन के लिये कहा गया है—"There was a time when it was believed that there were only five elements and that every thing in this Universe was made out of them. These were understood

---

१. श्री ब्रजेन्द्रनाथ शील आदि आधुनिक विद्वानों ने प्राचीन तत्त्वज्ञान को नवीन रूप से रखने का यत्न किया है। ये विद्वान् अवश्य ही धन्यवादार्ह हैं। मैं सर्वत्र इनके विचारों को मान नहीं सका। इन नवीन विद्वानों में जो दोष है, इसके कारण पर मैंने बाद में चर्चा की है।

as Air, Water, Fire, Earth and Sky. Of course it was a very wrong and unscientific belief." [पृष्ठ २१]।

अध्यात्मशास्त्रीय पञ्चभूतों को लक्ष्यकर ऐसा कहा गया है यह प्रतीत होता है; इस स्थलमें लौकिक मिट्टी, जल, आग, हवा आदि को अध्यात्मशास्त्रीय भूत मानकर लेखक ने जो खण्डन किया है वह उनकी अज्ञता का परिचायक ही है। अध्यात्मशास्त्र आकाश को शब्दगुणक द्रव्य समझता है; खेद है कि लेखक आकाश को Empty space समझते हैं। Empty space नाम का कोई पदार्थ अध्यात्मशास्त्र नहीं मानता। शब्दादि पाँच गुणों से शून्य बाह्य देश है—ऐसा वैज्ञानिक लेखक प्रमाणित कर सकते हैं क्या ? उनके द्वारा कथित खण्डन से किसी ग्रामीण की भूत-परक दृष्टि भले ही खण्डित होती हो, पर अध्यात्मशास्त्रीय दृष्टि खण्डित नहीं होती। माननीय लेखक इस विषय में मुझसे आलोचना करें तो मैं अपने को कृतकृत्य समझूँगा।

लेखक द्वारा प्रयुक्त of course शब्द पर मुझे आपत्ति है। बुद्धिमान् लेखक मेरे मनोभाव को समझ गये होंगे, इसलिये मैं इस आपत्ति का स्पष्टीकरण नहीं कर रहा हुँ।[1]

---

१. इस ग्रन्थ में ऐसी 'प्राचीनशास्त्रचर्चा' की गई है जो भ्रमपूर्ण है। पृ० ५ में 'जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है, जहाँ धूम नहीं है वहाँ वह्नि नहीं है' [ग्रन्थ में उद्धृत संस्कृत वाक्य में धूम्र धूम होगा; अन्य अशुद्धियाँ भी हैं] इसको Wellknown example of correlation of cause and effect कहा गया है। यह विशिष्ट उदाहरण हमारे देश के चिन्तकों का है, पर खेद है कि उपर्युक्त रूप में यह उदाहरण अंशत: असंगत है। भारतीय नैयायिकों के अनुसार 'जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है; जहाँ वह्नि नहीं है वहाँ धूम नहीं है'—ऐसा होगा; जहाँ हेतु है वहाँ साध्य है और जहाँ साध्य नहीं है वहाँ हेतु नहीं है—यही व्याप्ति (invariable concomitance) का प्रकृतरूप

५—इस तथ्य को मानने में कोई दोष नहीं है कि भारतवर्ष में ही बाह्य विषयों का विश्लेषण एकाधिक रीति से किया गया हो। प्रत्येक प्रकार का विश्लेषण अध्यात्मदृष्टि का फल भी नहीं है। विश्लेषण के एकाधिक प्रकार होने पर भी कुछ सादृश्य को लेकर एक ही शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रस्थानों में ईषत् भिन्न अर्थों में किया गया है। प्राचीन भारत की शिक्षापद्धति चूंकि शिष्य-आचार्य-परंपरा में नियन्त्रित होती थी, इसलिये शब्दों का यह सदोष प्रयोग उस काल में भ्रमजनक नहीं होता था।

'भूत' यह शब्द इस नियम का प्रसिद्ध उदाहरण है। अध्यात्मशास्त्र का जो भूततत्त्व है (जो समाधिविशेष द्वारा साक्षात्-करणीय है) वह न्याय-वैशेषिक का 'भूत' नहीं है। न्यायादि की विषयविश्लेषण-पद्धति तथा भूत

है। यही सर्वप्रसिद्ध व्याप्ति है। एक अन्य अल्पक्षेत्रव्यापी व्याप्ति भी है, [इसको समव्याप्ति कहा जाता है] जिसका 'जहाँ हेतु है वहाँ साध्य है तथा जहाँ हेतु नहीं है, वहाँ साध्य नहीं है' यह स्वरूप होता है। धूम और वह्नि का उदाहरण समव्याप्ति का नहीं है। यह भी कहा गया है कि कणाद को कणाद इसलिये कहा जाता है कि उन्होने कण (अणु) का प्रतिपादन किया है—(पृ० ५ द्र०)। यह असमीचीन है। परम्परागत प्रवाद यही है कि कणों को खाने के कारण ही उनका गौण नाम कणाद हो गया था। प्राचीन कालके योगी या तपकारी विद्वान् कण खाकर ही शरीर को बलवान् रखते थे, इसका स्पष्ट उल्लेख शान्तिपर्व में मिलता है—कणानां भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भारत। स्नेहानां वर्जने युक्तो योगी बलम् अवाप्नुयात्'' (३०० । ४३)। कणक्षेत्र में पतित धान्यादिका शीर्ष; कणोऽतिसूक्ष्मे धान्यांशे (अमरकोश ३।३।४६)। लेखक ने याज्ञवल्क्य एवं गार्गी के चरित (बृहदारण्यकोक्त) को पुरोहितवर्ग के निन्दनीय आचरण के उदाहरण के रूप में जो उपस्थित किया है (पृ० ५), यह सर्वथा कपोलकल्पित है। ईदृश अप्रयोजनीय व्यर्थ बातों को लिखकर लेखक क्या सिद्ध करना चाहते हैं, यह मैं जान न सका।

ज्ञानकी प्रणाली अध्यात्मशास्त्रीय पद्धति एवं प्रणाली से संपूर्ण पृथक् है, पर शब्द उभयत्र 'भूत' ही है। न्यायशास्त्रीय 'भूत' की अपनी उपयोगिता-उपादेयता है, अध्यात्मशास्त्रीय भूत की भी उपयोगिता-उपादेयता है। चार्वाक संप्रदाय में भी भूत शब्द प्रचलित था, यह ज्ञात होता है। क्या अतीन्द्रिय पदार्थका अपलापकारी चार्वाक का 'भूत' तथा योगशास्त्रीय 'भूत' एक ही पदार्थ हो जायेंगे? आयुर्वेद में भी भूत की चर्चा है[1]।

किन्हीं दो पदार्थों के (१) कारण, (२) कार्य या फल, (३) मुख्य स्वभाव, तथा (४) उनको जानने की प्रक्रिया—ये चार यदि समान हैं तो वे दो पदार्थ समान हैं। क्या योगशास्त्रीय, भूत और अन्यशास्त्रीय भूत में इन चारों का ऐक्य है? योग-शास्त्रीय भूत के ज्ञान होने पर तथा भूत पर जय प्राप्त होने पर कुछ शक्तियों (विभूतियों) का विकाश होता है। क्या चार्वाकीय, आयुर्वेदीय या न्यायशास्त्रीय भूत के ज्ञान एवं जय से इन विभूतियों की प्राप्ति होती है?[2]

६—किसी भी शास्त्र के विचार को समझने के समय हम प्रायः कुछ भ्रान्तियाँ करते हैं, जिससे शास्त्रीयचिन्ता की स्थिति विश्व के विद्वत्समाज में हास्यकर हो जाती है। निम्नोक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी:—

---

१. भूततत्त्व संबन्धी अध्यात्मदृष्टि 'पञ्चभूत और बाह्यविस्तार (स्पेस)' ग्रन्थ में प्रतिपादित हुई है। इस ग्रन्थ में आयुर्वेद आदि शास्त्रों के मतों पर विचार किया गया है। विज्ञानशास्त्र के Element, Atom, Electron, Energy आदि के साथ अध्यात्मशास्त्रीय पदार्थों का कोई संबन्ध है या नहीं यह भी विचारित हुआ है।

२. कोई व्यक्ति विभूति को अस्वीकृत कर सकता है। हमारा कहना है कि विभूति यदि नहीं है तो अध्यात्मतत्त्वज्ञान भी नहीं है। योगाभ्यासी के लिये विभूति अपरिहार्य है और विभूति का होना ही अध्यात्मतत्त्वदर्शन की सत्ता में प्रमाण है।

भारतीय आचार्य द्वारा चिन्तित पदार्थों के साथ अन्यान्य देश में आविष्कृत पदार्थों का कुछ सादृश्यमात्र देखकर दोनों को समान समझना बहुत बड़ा भ्रम है जो भारतीय विद्या को सर्वाधिकरूप से अमर्यादित कर रहा है। Atom को वैशेषिकोक्त अणु समझ लेना ऐसा ही एक भ्रान्त धारणा है। बाह्य पदार्थ (Matter) को Energy में परिणामित किया जा सकता है—इस मत के Energy को भारतीय विभिन्न दर्शनों में चिन्तित 'शक्ति' पदार्थ ही माना जाता है। क्या Energy तथा विभिन्न प्रस्थानों में उक्त 'शक्ति' एक ही है ? क्या शक्ति के कार्य-कारण उभयत्र समान हैं। 'प्राण' पर विभिन्न दृष्टियाँ हैं, उनके विभिन्न लक्षण हैं; इन भेदों पर ध्यान न देकर Life शब्द का प्रयोग प्राणके लिये कर देना तो सरल है, पर किस मत के अनुसारी 'प्राण' को Life कहा जा रहा है, यह अज्ञात रह ही जाता है, जिसका फल होता है कि न हमारे शिक्षार्थी भारतीय दृष्टि से शक्ति, प्राण, अणु आदि को ही समझ पाते हैं और न पाश्चात्त्यदेशीय दृष्टि के अनुसार ही उनके पदार्थ को समझ पाते हैं। यह स्थिति दूरीकरणीय है। चातुर्वर्ण्य के अन्तगत ब्राह्मण को Member of the priestly class वाक्य के आधार पर जानना जिस प्रकार आंशिक ज्ञान या भ्रान्तज्ञान है (ब्राह्मण के छह कर्मों में एक है याजन कर्म; यह कर्म ब्राह्मण ही कर सकता है, पर ब्राह्मण को याजन रूप पौरोहित्य कर्म करना ही होगा, ऐसी बात नहीं; अध्यापनमात्र-वृत्ति ब्राह्मण-कुल भी अनेक हैं) और जिसका कारण है—वर्णव्यवस्था की प्रकृति का ज्ञान न होना, **उसी प्रकार शास्त्रीय दृष्टि की प्रकृति को न जानकर शास्त्रीय चिन्ता एवं पदार्थों को समझने पर सर्वत्र भ्रान्त धारणा होने की संभावना रहती है।**

७—**शास्त्रीय चिन्ता की संगति को समझना शास्त्रीय पदार्थों के स्वरूप को जानने के लिये अपरिहार्य है।** शास्त्र-वाक्योंकी भाषाको समझना कोई शास्त्रज्ञान नहीं है, चिन्ताओ की सगति को समझना ही शास्त्रज्ञान है। 'अमुक स्थान पर अमुक वाक्य लिखा है' इतने मात्र जानने से कोई शास्त्रीय

मत को यथार्थतः जान नहीं सकता। कोई युक्ति किस चिन्ता को लक्ष्य करता है, किस मूलीभूत चिन्ता से अन्यान्य गौण मत स्वतः प्रकटित हो रहे हैं—यह जानना ही शास्त्रज्ञान है। युक्तियों का स्वारस्य जाने विना कोई शास्त्रीय पदार्थों को समझ नहीं सकता। अच्छी चिन्ताओं या उपकारक नियमों का संग्रहमात्र शास्त्र नहीं होता; परस्परसंबद्ध, एक दूसरे के परिपूरक सिद्धान्त किसी युक्तिपूर्ण रीति से (यथा उत्सर्गापवाद न्याय से) जब प्रकटीकृत होते हैं, तब वह समूह 'शास्त्र' कहलाता है। 'शास्त्र' वह है जिसे Scripture कहा जाता है—यह समझना मूढ़ता है।[1]

८—दूसरी भ्रान्ति है—अध्यात्मशास्त्रीय पदार्थों को हमारे लोकविज्ञात (विज्ञानशास्त्रविज्ञात भी) पदार्थों में पूर्णतया अन्तर्भाव करना। भौतिक विज्ञान के element, molecule, atom या अन्यान्य particles के साथ भूत या तन्मात्र को एक समझना इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। वैज्ञानिकों में इतनी चित्तशुद्धि अवश्य है कि वे अपने पदार्थों के साथ प्राचीन किसी भी शास्त्र के सदृश पदार्थों को मिलाने (दोनों एक ही हैं, ऐसा चिन्तन) की चेष्टा नहीं करते। हमारा ही यह दैन्य है कि हम इसी चेष्टा में रहते हैं कि योगशास्त्रीय किसी पदार्थ के साथ विज्ञानशास्त्रीय किसी पदार्थ को एक घोषित कर दिया जाय। योगशास्त्रीय इडा, पिङ्गला सुषुम्णा आदि कोई Nerve आदि रूप ही हैं, यह समझना भी इस प्रकार की भ्रान्ति है।

---

१. पाणिनि की सूत्रमय अष्टाध्यायी के प्रकरणों के क्रमिक स्थापन में क्या संगति है, उस पर मैंने दर्घकाल चिन्तन कर एक लेख प्रकाशित किया था। इस लेख के विषय में एक भाषाशास्त्री ने लिखा था कि मैंने अष्टाध्यायी को Scripture समझ कर ही प्रकरण-क्रमों की संगति पर विचार किया है। Scripture शब्द से जो अर्थ ध्वनित होता है, वह अर्थ अष्टाध्यायी में प्रयोज्य है—ऐसा मैं नहीं समझता। मैं स्पष्ट ही कहूँगा कि मैं अष्टाध्यायी को शास्त्र समझता हूँ—Scripture नहीं। दर्शनादि-ग्रन्थों को Scripture समझकर ही हम अधःपतित हो गये हैं।

९—अध्यात्मशास्त्रीय विचार की प्रकृति उसके अपने प्रयोजनःसिद्धि की दृष्टि से है । Physiology शास्त्र निद्रारूप अवस्था का विश्लेषण करता हैं । शारीरव्यापार की दृष्टि से निद्रा के स्वभाव की सूक्ष्मता कितनी हो सकती है, इसका परिज्ञान इस शास्त्र से होता है; इस सूक्ष्मता का यथावत् परिचय अध्यात्मशास्त्रीय ग्रन्थों से नहीं मिल सकता, यह सत्य है । निद्रारूप दोष का परिहार कैसे किया जा सके, निद्रा को योगसाधन की अनुकूल कैसे बनाया जाय, निद्रा पर आधिपत्य कैसे हो—ये ही अध्यात्मशास्त्र के मुख्य विचार्य विषय हैं । इन विचारों के साथ आधुनिक शरीरविद्या, मनोविज्ञान आदि शास्त्र की गवेषणाओं का कोई विरोध नहीं है, प्रत्युत यह गवेषणा अध्यात्मशास्त्रीय मतों को समझने के लिये परम सहायक है । 'मेरे द्वारा अधिगम्य व्यापारों के साथ संबन्ध प्रतीत न होने के कारण अध्यात्मशास्त्र के विचारों में गभीरता नहीं है'—ऐसा समझ लेना विचारक की मनीषा का दोष है । विचार की गभीरता को समझने के लिये उस क्षेत्र में कार्य करना पड़ता है; दूर से देखने पर गभीरता का ज्ञान नहीं होता । यथा—

वस्त्रसंबन्धी विश्लेषण उद्देश्य की भिन्नता से विभिन्न प्रकार की होगी; वस्त्रविक्रय के उद्देश्य से भी वस्त्रस्वरूप का ज्ञान करना आवश्यक होता है, वस्त्रनिर्माण करने के लिये भी, वस्त्रपरिधान करने के लिये भी, तथा वस्त्र द्वारा किसी को खींचने के लिये भी । उद्देश्यों के भेदों से वस्त्र के कारणादिपरक विचार की प्रकृति और सूक्ष्मता निर्भर करती है । वस्त्रसंबन्ध का त्याग करने के लिये भी वस्त्रस्वरूपसंबन्धी एक प्रकार का ज्ञान चाहिये, अन्यथा भ्रम से वस्त्र में अवस्त्र का ज्ञान होकर या अवस्त्र में वस्त्र का ज्ञान होकर वस्त्र का यथावत् त्याग भी न हो सकेगा । जिस प्रकार भोगसिद्धि के लिये ज्ञान की आवश्यकता है, उसी प्रकार त्यागसिद्धि (जिसका चरमरूप अपवर्ग है) के लिये भी पदार्थ के विषय में एक प्रकार का ज्ञान चाहिये । अपवर्ग की दृष्टि से ही प्रधानतः बाह्य एवं आन्तर विषयों का विश्लेषण किया गया है ।

१०—उद्देश्य की भिन्नता होने पर विचार या ज्ञानों में भिन्नता होगी; पर ये विभिन्न प्रकार परस्पर विरुद्ध या एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं होंगे। वस्त्रसंबन्धी विवेचनप्रधान ज्ञानों में भिन्नता होगी, एक दूसरे से स्थूल या सूक्ष्म होगा, पर इनमें परस्पर विरोध नहीं होगा। अपने प्रयोजन में ही सीमित रहने के कारण एक प्रयोजनेच्छु व्यक्ति अन्य प्रयोजनेच्छु के ज्ञान की प्रकृति को अनावश्यक समझेगा (अंशतः) या आवश्यक समझकर भी कभी कभी एक स्तर का व्यक्ति अन्य उच्चस्तरीय ज्ञान के संपादन में असमर्थ होगा। इसी प्रकार अध्यात्मशास्त्र का जो प्रयोजन है, वह प्रयोजन जडविज्ञानी का नहीं है और न ही जड़विज्ञानी के पास वह साधन है जिससे वह अध्यात्मवादी द्वारा चिन्तित तत्त्व का अभ्यास कर सके। ऐसा होने पर भी अध्यात्मशास्त्रीय विषय-विश्लेषण परक ज्ञान के साथ विज्ञानशास्त्रीय विषय-विश्लेषणपरक ज्ञान का कोई वास्तव विरोध नहीं है—कम-से-कम मुझे अपने दीर्घकालीन अध्ययन में ऐसा कोई विरोध नहीं मिला।

ध्यान देना चाहिये कि मेरा लक्ष्य विज्ञानशास्त्र से परिदृष्ट प्रयोग एवं परीक्षण से है, उसके निष्कर्षों के साथ नहीं। जिन घटनाओं से वैज्ञानिक जो निष्कर्ष (सिद्धान्त) निश्चित करते हैं; उन निष्कर्षों को अध्यात्मशास्त्र मानने के लिये कहीं भी बाध्य नहीं है।

११—नवीन शिक्षित लोगों में एक शोचनीय स्थिति यह है कि वे प्रायेण अध्यात्मशास्त्रीय मतों के विषय में भ्रान्त धारणा रखते हैं (शिक्षा-काल में अज्ञों के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण) और वैज्ञानिकों के द्वारा संपादित नये प्रयोगों को सुनकर विना कुछ सोचे-समझे वे रटते फिरते हैं कि अमुक अमुक प्रयोगों से अध्यात्मशास्त्र के अमुक सिद्धान्त खण्डित हो गये। ईश्वर, सिद्धि, अतीन्द्रियलोक, भूत, तन्मात्र, इन्द्रिय, मन, वृत्तिरोध, त्रिगुण, आदि आदि पदार्थों के विषय में अनेक उच्चशिक्षित व्यक्तियों की धारणा बालोचित है और वे समझते हैं कि 'हवा के संयोगजत्व' के सिद्ध होने से ही वायुभूत का संयोगजत्व सिद्ध हो गया !!

१२—अध्यात्मविदों की चिन्ताओं की सूक्ष्मता और गंभीरता शास्त्रवाक्यों के भासमान अर्थमात्र के ज्ञान से जानी नहीं जा सकती। उच्च उपलब्धि का एक स्थूलतर अंश भी यदि किसी को अधिगत हो जाय (दीर्घकालीन अभ्यास से) तभी शास्त्रवाक्यों के स्थूल अर्थों के पीछे जो गभीर और सूक्ष्म तत्त्वज्ञान है, उसका आभास होने लगता है। आजकल के चञ्चलचित्त विद्वान् को प्रायेण इस गभीरता और सूक्ष्मता का ज्ञान नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वे प्रत्येक स्थूल-सूक्ष्म तथ्य का शब्दतः प्रतिपादन देखना चाहते हैं। पूर्वाचार्यों ने अपनी स्वीकृत शैली से ग्रन्थों का प्रणयन किया है; उनको आधुनिक शैली का परिज्ञान नहीं था। यही कारण है कि हम प्रत्येक शास्त्रप्रेमी से अनुरोध करते हैं कि वे सहृदय होकर शास्त्र पढ़ें। शब्दतः अनुक्त सहस्रों तथ्यों का ज्ञान किये विना ग्रन्थ में प्रयुक्त वाक्यों की संगति लगाई नहीं जा सकती। नव्यन्याय के ग्रन्थों में शब्दप्रयोग की जो यथार्थता (accuracy) देखी जाती है उसका बहुत कुछ अभाव प्राचीन, प्राचीनतर एवं प्राचीनतम ग्रन्थों में दिखाई देता है (पर यह तत्त्वज्ञान के अपकर्ष का ज्ञापक नहीं है), यह भी ज्ञातव्य है। प्रायेण प्राचीन ग्रन्थ निश्चित अधिकारी को लक्ष्य कर लिखा गया है—यह भूलना नहीं चाहिये। हम स्वीकार करते ही हैं कि आजकाल के लोगों के लिये सुबोध्य जिस पद्धति से प्रतिपादन करने पर पदार्थ का बोध सुचारुरूपेण होता है, वह पद्धति प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलती। यह एक 'ऐतिहासिक दोष' है, अतः अध्यात्मज्ञानरसिक व्यक्ति को क्लेशपूर्वक ही शास्त्र का अध्ययन करना होगा।

१३—अध्यात्मशास्त्र के प्रत्येक पदार्थ को साधारण लौकिक बुद्धि के ज्ञात विषयों में अन्तर्भूत करने की दुष्प्रवृत्ति का फल हमें आधुनिक कई समालोचकों के ग्रन्थों में अत्यधिक मात्रा में दिखाई पड़ता है। अध्यात्म-शास्त्र जब मन, बुद्धि प्राण, शरीर, इन्द्रिय, स्वप्न, निद्रा, मरण आदि की बात करता है तब इनका संबन्ध केवल मनुष्य, पशु, पक्षी आदि लौकिक प्राणियों से ही नहीं होता, बल्कि वृक्ष रूप प्राणी तथा अत्यन्त क्षुद्रकाय एककौषिक प्राणी तथा ईदृश अन्यान्य प्राणियों से भी होता है। इतना ही

नहीं, जब तक विशेषरूप से निर्देश न हो तब तक उपर्युक्त उल्लेखों का संबन्ध देव, नारक प्राणी, आतिवाहिक देव, विभिन्न अभिमानी देव (भूत तन्मात्र आदि के अधिष्ठाता देव), प्रेतशरीरी आदि सर्वविध प्राणियों से अवश्य होता है। इन सब प्राणियों के शरीर–इन्द्रियादि में व्यावहारिक भेद है । अध्यात्मशास्त्र में इन जातिगत बाह्यभेदों पर दृष्टि न देकर तात्त्विक दृष्टि से ही प्रधानतः पूर्वोक्त मन, बुद्धि, प्राण, निद्रा आदि विषयों का विवेचन किया गया है । मनुष्य आदि देहधारी प्राणियों को लक्ष्य कर भी (तत्तत् जाति के वैशिष्ट्य के अनुसार) शास्त्रीय निर्देश किये गये हैं । जहाँ जाति-विशेष से कोई संबन्ध नहीं है, वहाँ का पदार्थविचार देव आदि सभी जातियों पर लागू होगा; ऐसी स्थिति में मनुष्य, पशु आदि के शरीर-इन्द्रिय की विशिष्ट प्रकृति पर शास्त्रीय सभी सामान्य निर्देशों को घटाने की इच्छा नहीं करनी चाहिये ।

१४––'प्रयोजन' के अनुसार उपदेश दिया जाता है या विचार किया जाता है । अध्यात्मवादियों का जो उद्देश्य है (वैषयिक क्रिया से प्राणी के चित्त को मुक्त करना) उसकी पूर्ति के लिये शरीर आदि जड़ पदार्थों का यादृश ज्ञान अपेक्षित है, तादृश ज्ञान ही प्रधानतया अध्यात्मशास्त्र में है । चिकित्साशास्त्र में जो शारीर चिन्ता है, अध्यात्मवादी भी उसी चिन्ता के अनुरूप ही कहते हैं–यह सोचना भ्रान्त है । शरीरविद्याविदों के साथ अध्यात्मवादी का कोई वस्तुतः विरोध नहीं है; पर अध्यात्मवादी का शरीर-तत्त्व-विश्लेषण ऐसा नहीं है कि उससे चिकित्सा-व्यापार साक्षात् निष्पन्न होजाय । ऐसा नहीं हो सकता। इडा, पिङ्गला के ज्ञान से व्रण आदि की साक्षात् चिकित्सा नहीं होती, तन्मात्र ज्ञान से अणुवम के निर्माण में सहायता नहीं होती; सर्वभूतरुतज्ञान से भाषाविज्ञानशास्त्र का कोई उपकार नहीं होता है; दिव्य चक्षु से अणुवीक्षण या दूरवीक्षण विद्या का कोई उपकार नहीं होता है । अपवर्ग के क्षेत्र में–चित्तशान्ति के लिये–इस ज्ञान की उपादेयता-कार्यकारिता है; साथ ही इस ज्ञान के अत्यन्त स्थूल रूप का उपयोग लोक की उन्नति के

लिये भी किया जा सकता है; त्रिगुणविद्या से आयुर्वेद आदि का प्रादुर्भाव होना इस नियम का एक उदाहरण है। योगविद्या के स्थूलरूप हठयोग से शरीर-इन्द्रिय का भोगाभिमुख अभीष्ट उत्कर्ष भी किया हा जा सकता है।

१५—किसी भी विषय का जिस प्रकार स्थूल रूप होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म-सूक्ष्मतर रूप भी होते हैं; और शास्त्र का निर्देश-यदि बाधक न हो तो–उन सभी रूपों पर लागू होगा। इन्द्रिय कहने पर हम लोगों को शारीरिक यन्त्रविशेष का ही बोध होता है; विषय ज्ञान का करण (instrument) रूप इन्द्रिय की क्रमिक सूक्ष्मता है, जो अवयव का क्षुद्रपरिमाणमात्र नहीं है। उन सूक्ष्म रूपों में प्रकृति की सूक्ष्मता भी स्वीकार्य है (द्र० योगसूत्र ३।४७)। इसी प्रकार पञ्च भूतों के भी क्रमिक सूक्ष्म स्तर है (द्र० योगसूत्र ३।४४)। जिस प्रकार चित्तवृत्ति के स्तर हैं, उसी प्रकार संस्कार के भी स्तर हैं, जो वृत्ति से सूक्ष्म हैं। वृत्ति को हम जितनी स्थूल समझते हैं, उससे सूक्ष्मतर वृत्तिस्तर भी है। जिस प्रकार मातापितृज देह में चक्षु (रूपज्ञान का करण) है, उसी प्रकार प्रेतशरीर में भी है, आतिवाहिक शरीर में भी है; देव और नारक शरीर में भी है; यहाँ तक की प्रजापति हिरण्यगर्भ में एवं अन्यान्य आभिमानिक देवों में भी चक्षु है (क्योंकि इन सबों को रूपज्ञान होता है); पर ये सब चक्षु उन जीवों की जाति के अनुरूप हैं। स्थूल घट के रूपज्ञान के लिये एक प्रकार का ज्ञानसाधनभूत चक्षु चाहिये, स्वप्नकालीन घटरूप के ज्ञान के लिये भी अन्य प्रकार का साधन चाहिये। रूपज्ञान के साधन होने के कारण इन सभी साधनों को शास्त्रकारों ने सर्वत्र एक ही 'चक्षु' शब्द से कहा है, पर इससे ये सब चक्षु एकस्तर के अन्तर्गत नहीं हो जाते।

१६—यह ज्ञातव्य है कि प्रयोजन की सिद्धि के लिये जो स्वगत उत्कर्ष लौकिक विद्या में है, वह अध्यात्मविद्या में नहीं है—यह सत्य है। योगशास्त्र में जो शरीरविश्लेषण मिलता है, उसमें Physiological तथा Anatomical distinction नहीं मिलता (यदि कहीं अंशतः मिल भी जाता है तो वह योगाभ्यासियों के लिये अवश्य ज्ञातव्य भी नहीं है)। इस

प्रकार का जो भी उत्कर्ष लौकिक शास्त्रों में मिलता है, उसका उपयोग अध्यात्मवादी स्वमत की पुष्टिके लिये कर ही सकते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाओं में मानस व्यापार संबन्धी ऐसी प्रयोग-परीक्षण-निर्भर बातें मिलती हैं जिनकी सहायता के विना अनेक अध्यात्मशास्त्रीय निर्देश अस्पष्ट ही रह जाते। पाश्चात्त्य मनोविज्ञानियों को हम साधुवाद देते हैं कि उनकी गवेषणा से हमें हमारे ही पूर्वाचार्यों के मतों को समझने में सुविधा मिली।[1] ऋषियों का ज्ञान सर्वतोव्यापी है--**यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।**

१७--मैं यह भी कहना चाहूँगा कि आर्षज्ञान के मध्ययुगीन असाधक व्याख्याकारियों के प्रति मेरी अत्यधिक श्रद्धाबुद्धि नहीं है। सांख्यकारिका की व्याख्या में वाचस्पति जो भी कुछ कहते हैं, वे सब सांख्यमत हैं-यह मैं नहीं समझता; तथैव सांख्यमत के खण्डन में जिन सांख्यमतों का उपस्थापन विभिन्न आचार्य करते हैं, वे सब सांख्यमत ही हैं, यह भी मैं नहीं मानता। मूल दृष्टि के साथ जिस मत की संगति रहेगी, वह स्वीकार्य होगा। त्रिगुण, सत्कार्यवाद एवं निर्गुण आत्मा का स्वीकारकारी प्रत्येक मत युक्ति से बाधित न होने पर—अध्यात्मशास्त्रीय मत है। कोई भी मत सुनने में चाहे कितना ही अच्छा हो अध्यात्मशास्त्रीय मत नहीं होगा (पूर्वोक्त पदार्थों का विरोध करने के कारण)।

शास्त्रीय ग्रन्थों को समझने में शब्दार्थ का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है। इस क्षेत्र में हम बहुत कुछ असहाय हैं[2]। प्राचीन ग्रन्थों के प्राचीन

---

१. स्वप्न, स्मृति, संस्कार आदि से संबन्धित मेरे ग्रन्थ जब प्रकाशित होंगे तब इस तथ्य के अनेक विशिष्ट उदाहरण पाठकों को प्राप्त होंगे।

२. शब्दार्थज्ञान में हमारी निर्बलता का एक उदाहरण लें। केन उपनिषद् निर्गुण आत्मा की सिद्धि के लिये अनुमानप्रणाली को दिखाता है कि 'प्रतिबोध' से ब्रह्म विदित होता है—प्रतिबोधविदितं मतम्' (२।१२)। पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी है और इस प्रतिसंवेदी भाव का अवलम्बन कर साधक पौरुष सत्ता का

व्याख्यान प्रायेण नहीं मिलते; प्राचीन कोश आदि भी बहुलांशेन लुप्त हो चुके हैं। ऐसी स्थिति में हमें बहुत सावधानी से कार्य करना पड़ता है। मध्ययुगीन आचार्यों के अनेक व्याख्यान अल्पाधिक मात्रा में काल्पनिक हैं—यह जानना चाहिये।

अवधारण कर सकता है–यह व्यासभाष्य में भी दिखाया गया है। केन उपनिषद् का अनुवादक प्रतिबोध रूप पारिभाषिक शब्द का अर्थ (व्यासभाष्यदर्शित) न समझकर यों ही कुछ न कुछ व्याख्या कर देते हैं, जिससे औपनिषद तत्त्वज्ञान की सूक्ष्मता नष्ट हो जाती है। व्यासभाष्य (या अन्य प्राचीन व्याख्यान या ईदृश अन्य सहायक ग्रन्थ) के न मिलने पर 'प्रतिबोध' शब्द का विवक्षित अर्थ जानने में कठिनाई होती है और यही संभावना रहती है कि कोई काल्पनिक अर्थ कर दें। (द्र० K. Chattopadhyaya कृत इस उपनिषद् का अंग्रेजी अनुवाद, जिसमें प्रतिबोध की भ्रष्ट व्याख्या की गई है)। अध्यात्मशास्त्र में व्यवहृत 'भोक्ता' आदि शब्दों के विवक्षित अर्थ आज लुप्तप्राय हैं, जिसके कारण उपनिषद् आदि के वाक्यों का अर्थ करना अनेकत्र दुरूह हो गया है।

ओम् नमः परमर्षये

तन्मात्र तथा विश्व का मनोमय मूल

[अध्यात्मशास्त्रीय विश्लेषण]

उपक्रम—अध्यात्मविदों द्वारा बाह्य ग्राह्य विषयों का जो विश्लेषण किया गया है, उसके अनुसार **प्रथम तत्त्व है भूत और द्वितीय है तन्मात्र**। तन्मात्र को पञ्च भूतों का उपादान कारण माना गया है। भूत तत्त्व से स्थूलतर पदार्थ को अर्थात् भौतिक अवस्था को 'तत्त्व' नहीं माना जाता। ये पाँच भूत मिट्टी, जल, आग, हवा और नीलाकाश रूप नहीं हैं। इन भूतों को बाह्य द्रव्य की Solid, Liquid, Gaseous, Ionic और Etheric अवस्थारूप समझना भी असंगत है[1]।

तन्मात्र के विषय में अध्यात्मशास्त्रीय दृष्टि—

(१) तन्मात्र गोल या किसी अन्य आकार से युक्त क्षुद्र कण रूप (Particle, Corpuscle) नहीं हैं।

(२) तन्मात्र 'अणु' कहलाता है, पर न्याय-वैशेषिक में जिस अर्थ में (अर्थात् वह काल्पनिक द्रव्य जिसका पुनः अवयव में विभाग नहीं हो सकता) अणु शब्द का प्रयोग होता है, वह अर्थ अध्यात्मशास्त्र में ग्राह्य नहीं है। Atom आदि भी तन्मात्र नहीं हैं। Electron, Proton आदि अथवा Photon जातीय पदार्थ भी तन्मात्र नहीं हैं।

---

१. द्र० मेरा ग्रन्थ 'पञ्चभूत तथा बाह्य विस्तार (स्पेस)"। इस ग्रन्थ में भौतिक अवस्था का स्वरूप, भौतिक के भेद, 'विशेष' रूप भूत से निर्मित विविध प्रकार के शरीर आदि के विवरण के साथ विस्तारबोध के मूल हेतु पर चर्चा की गई है।

(३) पांच तन्मात्र पृथिवीभूत, अप्‌भूत आदि पांच भूतों के यथाक्रम उपादान हैं; प्रत्येक तन्मात्र में एक ही प्रकाश्य गुण है, यथा गन्धतन्मात्र में केवल गन्धरूप 'प्रकाश्य गुण' है, रसतन्मात्र में केवल रस है, गन्ध और रस नहीं हैं। इस प्रकार रूप, स्पर्श, शब्द तन्मात्र के विषय में भी जानना चाहिए।

(४) शब्दतन्मात्र में केवल शब्द है, स्पर्शतन्मात्र में शब्द-स्पर्श हैं, इस प्रकार का जो मत है, वह अतात्त्विक है। व्यावहारिक स्थूल भूतों को (भूततत्त्व को नहीं) लक्ष्यकर ऐसा कहा गया है।

(५) तन्मात्रों का साक्षात्कार चित्त के स्थैर्यविशेष से ही किया जा सकता है।

(६) तन्मात्र के ज्ञान में देशव्यापिता का बोध अत्यन्त अस्फुट हो जाता है; तन्मात्र कालिक धारा से साक्षात्कृत होता है।

(७) तन्मात्रज्ञान में सुख-दुःख-मोह का बोध नहीं रहता।

(८) तन्मात्र का उपादान मनोजातीय द्रव्य है; यह उपादान बाह्य रूप से प्राप्तव्य या ज्ञातव्य नहीं है।

(९) तन्मात्र का यह मनोजातीय उपादान किसी महाशक्तिशाली प्राणी के अन्तःकरण में प्रतिष्ठित होगा। जिसके अन्तःकरण में वह प्रतिष्ठित होगा, वह महान् पुरुष सृष्टि करने में समर्थ होगा। यह प्राणी प्रजापति, हिरण्यगर्भ आदि नामों से प्राचीन शास्त्र में अभिहित हुआ है।

(१०) तन्मात्र-ज्ञान प्रत्येक प्राणी के चित्त का परिणाम है; जिस हेतु से यह ज्ञान चित्त में उत्पन्न होता है, वह हेतु भी मूलतः मानस द्रव्य है। इस प्रकार बाह्य और आन्तर जगत् मूलतः मनोमय ही हैं।

(११) प्राणी मानस भावों को जो 'बाह्यरूप से ग्राह्य' समझते हैं, उसका हेतु है—चित्त और इन्द्रियों की जड़ता। योगसाधन से यह जड़ता जिस क्रम से दूरीकृत होती जायेगी, भूततत्त्व और तन्मात्रतत्त्व का साक्षात् ज्ञान उसी क्रम से चित्त में उदित होता जायेगा।

(१२) इस पृथ्वीपिण्ड के या इस प्रकार के चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, नेबुला आदि अन्य पिण्डों के जडवैज्ञानिक विश्लेषण की तरह ही भूत-तन्मात्र रूप ध्यानज विश्लेषण है—यह समझना बहुत बड़ी भूल है। पृथिवी आदि पिण्ड रहे या न रहे, जब तक ग्राह्य बोध किसी न किसी रूप में रहेगा, तब तक प्राणी में भूत-तन्मात्र का ज्ञान अवश्य उदित होगा। बाह्य विस्तार रूप देशबोध और यह ग्राह्यबोध अविनाभावी है। यही कारण है कि जनलोक तपोलोक आदि इन्द्रियाग्राह्य सूक्ष्मलोकों के निवासी योगियों में भी तन्मात्रज्ञान की सत्ता कही गई है।

(१३) अनात्मबोध के विश्लेषण में (अपवर्ग की दृष्टि से) भूत तत्त्व और तन्मात्र तत्त्व की बात आती है। बोध का कोई न कोई विषय होगा, अतः चित्त की एक-एक प्रकार की स्थिरता में जिस-जिस प्रकार का बाह्य ज्ञानरूप अनात्म बोध उद्भूत होता है, उसके विषय के रूप में भूत और तन्मात्र रूप बाह्य द्रव्य भी माने गये हैं। भूतनिर्मित सूक्ष्म लोकों में भी अनात्मबोध के अन्तर्गत बाह्यबोध है, अतः सूक्ष्म लोक भी भूतज्ञान के हेतु हो सकते हैं (इस पृथिवीपिण्ड की तरह)। भूत-तन्मात्रों को पृथिवी आदि पिण्डों के अन्तर्गत रूप में ही समझना अध्यात्मविदों के तत्त्वदर्शन पर उपहास करना है।

भूत-तन्मात्र-विश्लेषण का आधार

तन्मात्र-स्वरुप को जानने के लिये पहले ही यह जानना आवश्यक है कि किस दृष्टि से यह विश्लेषण किया गया है। कोई भी विश्लेषण किसी एक दृष्टि से ही किया जाता है तथा दृष्टियाँ प्रयोजनानुसारी ही होती हैं।

अध्यात्मशास्त्र ने विश्व का जो विश्लेषण किया है, उसका उद्देश्य है—ज्ञाता प्राणी (चित्तयुक्त आत्मा) को ज्ञेय दुःख से वियुक्त करना। ज्ञेय विश्व का विश्लेषण इसी वियोग की दृष्टि से अर्थात् अपवर्ग की दृष्टि से किया गया है, जिससे प्राणी विषयक्रिया से जात दुःख से अतीत हो जाय। अतः जिस रूप से विषयों को जानने से प्राणी

दुःखोत्पादक क्रिया का अतिक्रमण कर सकता है अर्थात् अनात्म-संबन्ध से विच्युत हो सकता है उस रूप से जगत्तत्त्व का विश्लेषण किया गया है।

अध्यात्मविद्या ने निश्चित किया है कि ज्ञान ही सब व्यवहारों का मूल है। यह भी निश्चित है कि दुःखोत्पादिका क्रिया से जो चित्त-परिणाम होता है, वह यदि ज्ञात न हो तो दुःख से विमुक्ति होगी। बाह्य बोधवाही नाडी के विच्छिन्न कर देने पर नाडी-संबन्धित हस्त आदि स्थानों में छेदन क्रिया होने पर भी वह ज्ञानस्थान में विदित नहीं होती-यह उदाहरण यहाँ भी प्रयोज्य है।

अत एव अध्यात्मशास्त्र का विश्लेषण बोध को लक्ष्य कर चलता है। अर्थात् विषय [1] को जिस प्रकार से जानने से वैषयिक क्रिया के अभिघात के ऊपर उठा जा सकता है, उस प्रकार से जानना ही यह विश्लेषण है। इस ज्ञान का प्रयोग भी किया जा सकता है, जिससे त्रिकालज्ञान आदि उत्पन्न होते हैं। वर्तमान परमाणुविज्ञान से उद्भावित यन्त्र आदि के क्षेत्रों में तन्मात्रज्ञान का कुछ भी उपयोग नहीं है—यह स्पष्टतया जानना चाहिये।

अध्यात्मशास्त्र की मान्यता है कि ज्ञेय का ज्ञान चित्तसापेक्ष है (बाह्य ज्ञेय का ज्ञान इन्द्रियसापेक्ष भी है, पर वे इन्द्रियाँ चित्त की अधीन हैं)। चित्तेन्द्रिय की एक प्रकार की अवस्था में जैसा ज्ञान होता है, यदि चित्त और इन्द्रिय की प्रकृति (अवस्था) अन्य प्रकार में परिणत हो जाय तो ज्ञेय का ज्ञान भी तदनुसार बदल जायेगा।

प्राणी के शरीर, इन्द्रिय और चित्त की प्रकृति के अनुसार बाह्य धर्मों का ज्ञान होता है—यह विज्ञानी को मानना पड़ता है। शब्द-स्पर्श-रूपादि का

---

१. विषय के तीन भेद हैं—(१) बोध्य विषय, (२) कार्य विषय तथा (३) धार्य विषय। १ = शब्द-स्पर्शादि; २ = वाक्योच्चारण-शिल्प कर्म-गमन आदि; ३ = शरीर के यन्त्रों का विधारण। प्रत्येक विषय पाँच पाँच प्रकार का है—यह अध्यात्मशास्त्र दिखाता है।

ज्ञान विभिन्न जाति के प्राणी में एक ही प्रकार का नहीं होता [१]—यह एक प्रमाणित तथ्य है। जाड्यधर्म विशेषरूप से शरीरसापेक्ष हैं।

चित्त और विषयज्ञान की सूक्ष्मता का परस्पर संबन्ध

अध्यात्मशास्त्र का कहना है कि 'विषय का परिणाम' तथा 'चित्त की अवस्था'- इन दोनों के संपर्क से ज्ञान होता है। प्राणीमात्र का स्वभाव यह है कि वह 'जैसा ज्ञान होता है, विषय भी उसके अनुरूप ही है'–यह निर्धारण करता है। अब विचारना चाहिये कि ज्ञान होने के बाद प्राणी ज्ञात विषय का स्वरूप निश्चित करता है और यह ज्ञान चित्त के वैषयिक क्रिया द्वारा उपरंजित होने से ही होता है। इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि ज्ञात होने से पहले वैषयिक क्रिया का स्वरूप क्या है–यह कभी भी ग्राह्य रूप से जाना नहीं जा सकता। चूँकि ज्ञान चित्त में प्रतिष्ठित है, इसलिये चित्तस्थित ज्ञानशक्ति जैसी जैसी सूक्ष्म होती जायेगी, विषयज्ञान भी स्वभावतः उसी क्रम से सूक्ष्म होता जायेगा। शब्द-स्पर्श आदि रूप से ज्ञायमान होना ही विषय का स्वरूप है, अतः ज्ञानशक्ति की स्थिरता से विषय का सूक्ष्मरूप जाना जा सकता है।

चित्त को सूक्ष्म, सूक्ष्मतर स्थिरता में न ले जाकर भी बाह्य विषयों को उसके अवयवों या उपादानों में विभक्त किया जा सकता है, जैसा कि रसायन आदि शास्त्रों में देखा जाता है। सिन्दूर (Vermilion) को पारद

---

१. उदाहरणार्थ जिस पदार्थ को जिस रूप से युक्त के रूप में कोई मनुष्य-चक्षु समझता है उसको उसी रूप से युक्त के रूप में पशु-पक्षी आदि नहीं समझते हैं। जो कम्पन पशु-पक्षियों में जिस ध्वनि का बोध कराता है, उस कम्पन से मनुष्य भी उसी ध्वनि का बोध करता है—यह कहना संगत नहीं है। एक एक जाति में चित्त-इन्द्रिय-शरीर की प्रकृति एक एक प्रकार की होगी। एक जाति के अन्तर्गत प्रत्येक प्राणी में भी समान क्रिया से उद्भूत बोध में विलक्षणता अवश्य होती है। पर वह विलक्षणता अव्यवहार्य है।

(mercury) तथा गन्धक (Sulphur) में जो विश्लेषण (analysis) किया जाता है, वह रासायनिक विश्लेषण है, जिसकी अपनी उपयोगिता है (विषय को भोग्य के रूप में देखकर इच्छापूर्ति के लिये यह विश्लेषण किया जाता है)। अध्यात्म-शास्त्र अपवर्ग की दृष्टि से (विषयक्रिया चित्त को क्लिष्ट न कर सके, चित्त बाह्य वैषयक क्रिया का अतीत हो जाय तथा अव्यक्त अवस्था को प्राप्त कर सके–इस दृष्टि से) विषयों का विश्लेषण करता है, अतः वह 'विषय-ज्ञान', 'विषय-जनित चाञ्चल्य' 'मन का विषय द्वारा उपरंजित होना' आदि का विश्लेषण करता है, न कि रसायन शास्त्र की तरह पदार्थों को उपादान में विभक्त करता है। **रसायन आदि शास्त्र 'भौतिक द्रव्य का भौतिक द्रव्य में ही विश्लेषण' करते हैं। Electron आदि सभी आविष्कृत पदार्थ हमारी दृष्टि में भौतिक हैं, भूततत्त्व भी नहीं।**

इस भेद को विशेष रूप से जानना चाहिये। इसको न जानकर अनेक विद्वानों ने जडविज्ञानशास्त्र के Element के साथ तन्मात्र या भूत को मिलाने की हास्यास्पद चेष्टा की है। अध्यात्मशास्त्र 'ज्ञाता की दृष्टि से ज्ञेय का विश्लेषण' (स्थूल बोध को सूक्ष्म–सूक्ष्मतर बोध में ले जाना) करता है–यह भूलना नहीं चाहिये। **यह विश्लेषण भी अपवर्ग के लिये किया जाता है**, अतः भूततत्त्व के साथ भौतिकी शास्त्र के 'भूत' (element या इस प्रकार के अन्य किसी पदार्थ के साथ) की तुलना करना अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि को न समझना ही है।

बाह्य बोध के तीन स्तर

चित्त और इन्द्रिय की इस शक्ति को देखकर अध्यात्मविदों ने कहा है कि प्राणी को (विचार की सुविधा के लिए यहाँ प्राणी= मनुष्य है) जो बाह्य बोध होता है वह भौतिक बोध है; **भौतिक बोध=पांच भूतों का मिश्रण जात बोध। इस संमिश्रित बोध के कारण ही प्राणी एक-एक संनिवेश**

(निश्चित आकारवान् रूपादि गुणयुक्त द्रव्य) के प्रति राग या द्वेष रखते हैं तथा कर्म करते रहते हैं।

यदि इस मिश्रित पञ्चभूतमय बोध के स्थान पर एक एक भूत का पृथक् रूप से बोध हो, तो वह बोध भौतिक बोध की तुलना में सूक्ष्म होगा, साथ ही वह राग-द्वेष का नाशकारी भी होगा, ऐसा समझकर ऋषियों ने भूततत्त्वज्ञान के लिए उपदेश दिया है। इन्द्रियों की जड़ता और चाञ्चल्य के कारण जो भौतिक ज्ञान होता है, उसके स्थान पर (चित्त के स्थैर्य-विशेष के बल पर) एक एक भूत का ज्ञान जिस पद्धति से किया जा सकता है वह शास्त्र में दिखायी गयी है। भौतिक ज्ञान की संकीर्णता भूततत्त्वज्ञान से नष्ट होती है; इसी प्रकार भूतज्ञान की संकीर्णता तन्मात्रज्ञान से दूर होती है। जितनी सापेक्षता [1]भूतज्ञान में है, उतनी सापेक्षता तन्मात्र-ज्ञान में नहीं है। इस प्रकार ज्ञानशक्ति को क्रमशः सूक्ष्म कर बाह्य विषयों की सूक्ष्मावस्था को जाना जा सकता है।

तन्मात्र का परिचय

बाह्य पदार्थ के धर्म :—अध्यात्मशास्त्र कहता है कि 'बाह्य' द्रव्यों में अनेक प्रकार के धर्म उपलब्ध होते हैं। बाह्य का अर्थ है—मनोबाह्य;

---

१. वैषयिक ज्ञान में दो प्रकार की अपेक्षा होती है—(१) वस्तु के परिणाम की तथा (२) ज्ञान शक्ति की। इस अपेक्षा के कारण ही सभी प्रकार के व्यावहारिक ज्ञान —चाहे वह बाह्य हो चाहे आन्तरिक हो—आपेक्षिक ही होते हैं। इस आपेक्षिक सत्य की व्यापकता में तारतम्य होता है। इस व्यापकता का अनुसन्धान ही भोगसिद्धि की दृष्टि से विज्ञानशास्त्र (Science) का कार्य है और अपवर्ग की दृष्टि से मोक्षशास्त्र (अध्यात्म-विद्या) का कार्य है। यही कारण है कि भूत, तन्मात्र आदि के साथ element, atom आदि का कोई ऐक्य भी नहीं है, विरोध भी नहीं है। इन पदार्थों में ऐक्य या विरोध दिखाने वाले व्यक्ति निश्चयेन दोनों शास्त्रों की प्रवृत्ति के विषय में अज्ञ हैं।

दैशिक विस्तार का बोध बाह्य पदार्थ के बोध के साथ अवश्य होगा। धर्म का अर्थ है--वह ज्ञात भाव जिससे हम धर्मी रूप द्रव्य को जानते हैं। यह ज्ञायमान भाग 'गुण' भी कहलाता है। अध्यात्मशास्त्र ने इन बाह्य धर्मों को तीन भागों में बाँटा है—क्रियाधर्म, जाड्यधर्म तथा प्रकाश्यधर्म। प्रकाश्य धर्म वह धर्म है जो सर्वप्रथम इन्द्रिय-गोचर होता है तथा जिसके ज्ञान पर बाह्य ज्ञान मुख्यरूप से अवलम्बित रहता है एवं जिसमें प्रकाशभाव ही स्फुट है। प्रकाश्य धर्म पाँच हैं—शब्द, स्पर्श (शीतोष्ण), रूप, रस और गन्ध। कोई भी दैशिक प्रतीतिरूप बाह्य ज्ञान इन पांचों के ज्ञान के विना नहीं हो सकता। अनात्मबोध के दो भाग हैं—देशबोध और कालबोध। देशबोध ही बाह्य बोध है। यह बोध पांच भूत के ज्ञान में विश्लिष्ट हो सकता है।

इन पांच प्रकाश्य धर्मों के अतिरिक्त बाह्य द्रव्यों में क्रियाधर्म भी हैं; गति मौलिक क्रियाधर्म है। अवस्थारूप परिणाम भी गति पर अवलम्बित है। आकर्षण आदि धर्म भी क्रियाधर्म हैं।

बाह्य द्रव्यों में कुछ जाड्य-धर्म भी हैं; ये धर्म ज्ञान और क्रिया के रोधक ही होते हैं। कठिनता, कोमलता आदि जाड्यधर्म हैं। बाह्य पदार्थ को चालित करने के समय या बाह्य पदार्थ द्वारा अवरुद्ध होने पर ये बोध उद्भूत होते हैं।

ये तीन 'बाह्य' धर्म[१] हैं, अर्थात् इन धर्मों का बोध जब होता है, तब

---

१. इन तीन प्रकार के धर्मों का ज्ञान किसके द्वारा (अर्थात् किस इन्द्रिय के द्वारा) होता है, यह प्रश्न हो सकता है। अध्यात्मशास्त्र कहता है कि ज्ञानेन्द्रियाँ जिस प्रकार मुख्य रूप से जानती हैं, (चूंकि उनमें सत्त्व गुण है) उसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ तथा पञ्च प्राण रूप विधारक इन्द्रियाँ भी जानती हैं (उनमें भी अप्रधान रूप से सत्त्वगुण के रहने के कारण)। शब्द, स्पर्श आदि पांच प्रकाश्य बाह्य गुणों के अतिरिक्त अन्य जितने बाह्य बोध (काठिन्य आदि के बोध) हैं, वे सब इन दोनों प्रकार की इन्द्रियों द्वारा होते हैं। कर्मेन्द्रिय और पञ्चप्राण के बलपर भूतजय करने के समय काठिन्य आदि भावों का अवलम्बन योगी को करना पड़ता है - यह ज्ञातव्य है।

'यह मन के बाह्य है' ऐसा ज्ञान होता है। मन स्वगत भावों के अतिरिक्त अन्य कुछ जान रहा है—यही बाह्य बोध का मूल स्वरूप है। बाह्य बोध में भो आपेक्षिकता है, कोई 'अधिक बाह्य' और कोई 'अल्प बाह्य' रूप से ज्ञात होता है। राग-द्वेष-लोभ आदि सदृश भाव 'बाह्य' नहीं हैं।

इन त्रिविध धर्मों में प्रकाश्य-धर्म ही प्रधान हैं, क्योंकि क्रिया-धर्म तथा जाड्यधर्म प्रकाश्यधर्म के अनुगत होकर ही ज्ञात होते हैं। 'किसी की गति' 'किसी की कठिनता'—इस रूप से ही प्राणी क्रिया एवं जाड्य धर्म के विषय में व्यवहार करता है। 'किस' शब्द से लक्षित पदार्थ शब्द, स्पर्श, रूप आदि प्रकाश्यधर्मयुक्तरूप में ही ज्ञात होता है। **इस प्रकार पांच प्रकाश्य गुणों के अनुसार ही भौतिक जगत् के पांच उपादान अध्यात्म-शास्त्र में स्थिर किये गये हैं; यह उपादान भूततत्त्व है। तदनुसार क्षिति (या पृथिवी) भूत का लक्षण है—वह जड-परिणामी बाह्य द्रव्य जिसका गुण है—गन्ध। यह लक्षण विषय-दृष्टि से है; अध्यात्म-दृष्टि से हम कहेंगे—जिस समय गन्ध का ही आश्रय कर बाह्य देश का बोध होता है, वह बोध क्षितिभूत का बोध है।** इस समय काठिन्य (hardness) का बोध नहीं होता। इसी प्रकार अप्‌भूत (जलभूत) का लक्षण है—वह जडपरिणामी बाह्य द्रव्य जिसका एक मात्र गुण है—रस। इस जल के बोध में तरलता (fluidity) का बोध नहीं होता। तेजःभूत का लक्षण है—वह जडपरिणामी बाह्य द्रव्य जिसका एक मात्र गुण है—रूप। इस रूप के बोध के समय उष्णता का बोध नहीं होता। वायुभूत का लक्षण है—वह जडपरिणामी बाह्य द्रव्य जिसका एकमात्र गुण है स्पर्श (शीत-उष्ण)। यह हवा या गैस मात्र नही है। हवा से शून्य स्थान भी वायु भूत से युक्त होता ही है। आकाश भूत (व्योम) का लक्षण है वह जड बाह्य द्रव्य जिसका एक मात्र गुण है—शब्द।

इन भूतों के साक्षात्कारकाल में क्रियाधर्म और जाड्यधर्म का बोध होता है या नहीं—यह प्रश्न होगा। उस समय सूक्ष्म परिणाम रूप क्रिया-

धर्म और सूक्ष्म रोध या आवरण रूप जाड्य-धर्म-मात्र का बोध होता है। शरीरसंबन्ध पर आश्रित जो क्रियाधर्म और जाड्यधर्म (कठिनता आदि) हैं, उनका बोध भूततत्त्वके साक्षात्कार काल में नहीं होता—यह ज्ञातव्य है।[1]

तन्मात्रसाक्षात्कार की पद्धति

तन्मात्र केवल अनुमानगम्य नहीं है, बल्कि चित्तस्थैर्य की एक निश्चित अवस्था में वह बाह्य द्रव्य के रूप में साक्षात्कृत होता है—यह शास्त्र की मान्यता है। ज्ञेय पदार्थ की सूक्ष्मता के अनुसार जब ज्ञानशक्ति की सूक्ष्मता होती है, तभी वह शक्ति किसी पदार्थ को पृथक् कर जान सकती है; तन्मात्र-साक्षात्कार के लिये भी यही युक्ति प्रयोज्य है।

तन्मात्र का साक्षात्कार वही कर सकता है, जिसने चित्तस्थैर्य के बल पर पञ्चभूतों का साक्षात्कार किया हो। **समाधिविशेष के बल पर ही तन्मात्रों का साक्षात्कार किया जा सकता है।** तन्मात्र-साक्षात्कार की पद्धति को पढ़कर किसीको तन्मात्रके दर्शन के लिये चेष्टा नहीं करनी चाहिये; इस पद्धति का निजी क्रम है तथा इसके लिए शरीर-इन्द्रिय-चित्त की क्रियाओं का स्थिरीकरण आवश्यक होता है। साक्षात्कार की पद्धति को जानने से तन्मात्र स्वरूप का ज्ञान स्फुटतर होगा—यह समझ कर साक्षात्कार की पद्धति का स्थूल विवरण दिया जा रहा है।

तन्मात्रसाक्षात्कारेच्छु में विषयगत क्रिया द्वारा उत्पद्यमान चाञ्चल्य (sensation) को असंकीर्ण रूप से जानने की शक्ति होनी चाहिए। यह शक्ति प्रत्याहार (योगाङ्गविशेष) के बल पर ही अर्जित हो सकती है।

---

१. कठिनता, तरलता, वायवीयता, रश्मिता आदि धर्मों का स्वरूप तथा काठिन्य आदि बोधों का हेतु आदि विषय "पञ्च भूत तथा बाह्यविस्तार" ग्रन्थ में विवेचित हुये है। काठिन्य, स्नेह, निरावरणवद् भाव आदि भौतिक अवस्था में ही हैं; भूत अवस्था में नहीं, यह ज्ञातव्य है।

बाह्य विषयों को ज्ञेयधर्ममूलक विभाग के आधार पर तन्मात्र-सिद्धान्त स्थिरीकृत हुआ है। अतः हम कह सकते हैं कि जब प्रत्याहार-रूप योगाङ्ग के बल से कोई साधक अपनी ज्ञानेन्द्रियों को उस निश्चित मात्रा में स्थिर कर लेता है जिसमें केवल एक ज्ञानेन्द्रिय सक्रिय रहती है और अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ रुद्ध[1] हो जाती हैं, उस समय जो बाह्य ज्ञान होता है, वही भूततत्त्व का साक्षात्कार है।

इस चित्तस्थैर्य में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में से किसी एक धर्म के ज्ञान की उत्पादक बाह्य उत्तेजना की एक एक समष्टि (पाँच ज्ञानेन्द्रियों में से किसी एक योग्य ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा) गृहीत होती है (शब्दोत्पादक उत्तेजना-समष्टि कर्ण के द्वारा, स्पर्शोत्पादक उत्तेजना-

१. 'इन्द्रियरोध' पर एक शंका यह है कि इन्द्रियाधिष्ठान की बोध-नाडी-विशेष (sensory nerve) को छिन्न कर देने से भी सम्बन्धित विषय का बोध नहीं होता, अतः प्रत्याहार के विना भी भूत और तन्मात्र की उपलब्धि होनी चाहिये। अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि को न जानने के कारण ही यह शंका उठती है। नाडीविशेष के छेदन से भौतिक ज्ञान का रोध होता है (यह रोध भी कृत्रिम ही है); इससे भूतज्ञान और तन्मात्रज्ञान का रोध नहीं होता। ज्ञानेन्द्रिय के मूल स्थान (मस्तिष्कस्थ स्थानविशेष) की सहायता से भूततत्त्व का ज्ञान होता है; उस समय शरीर मृतप्राय हो जाता है। अतः Nerve विशेष का रहना या नहीं रहना एक अनावश्यक बात है। बाह्य-रूपादि ज्ञान के साधनभूत इन्द्रियों की सूक्ष्म शक्ति का पूर्ण परिज्ञान अभी तक शरीरविज्ञानी को नहीं हो सका है। शरीरयन्त्ररूप अधिष्ठान के विकृत होने पर या नष्ट होने पर बाह्यरूपादि का ज्ञान सर्वथा नहीं होगा—ऐसा सोचना भी नहीं चाहिए। 'बाह्य क्रिया द्वारा चित्त-इन्द्रिय का उत्तेजित होना' रूप स्थिति का रोध ही इन्द्रियरोध है। दर्शन-श्रवण-आदि की शक्तियाँ इन्द्रिय हैं। मूलतः वह शक्ति चित्तशक्ति है। इन्द्रियतत्त्व के साक्षात्कार के समय 'इन्द्रिय चित्तस्थित द्वाररूप हैं' ऐसा बोध होता है।

समष्टि त्वक् के द्वारा इत्यादि क्रम से)। पूर्वोक्त समष्टि के ज्ञान में उत्तेजना (stimulus) के तारतम्य के अनुसार शब्दादि गुणों के स्वगत वैचित्र्यों का बोध भी होता है; यथा—शब्दाश्रय आकाश भूत के साक्षात्कारकाल में शब्द के किसी एक भेद (षड्ज आदि) का ही ज्ञान होता है। (इस भूतज्ञान के समय दैशिक विस्तार बोध स्फुट रूप से रहता है; शब्दगुणक आकाश भूत के साक्षात्कार के समय यह विस्तारबोध अल्प हो जाता है और रूपगुणक तेजोभूत के ज्ञान काल में यह बोध सर्वाधिक रूप से उद्भूत होता है)।

चित्त की स्थिरता जब इस स्तर तक पहुँच जाती है कि वह ज्ञानोत्पादक उत्तेजनाओं की समष्टि का ग्रहण न कर एक-एक उत्तेजना (क्षणव्यापी एक एक क्रिया) का ग्रहण पृथक् पृथक् रूप से करने में समर्थ हो जाता है, तब एक एक बाह्य उत्तेजना से जो अणु अणु बाह्य ज्ञान उत्पन्न होता है, वही 'तन्मात्रज्ञान' है; उस अणु ज्ञान की उत्पादिका क्रिया जिस सूक्ष्म द्रव्य में है, वह पदार्थ तन्मात्र है। तन्मात्र-साक्षात्कार काल में एक एक अभिघातजनित ज्ञान ही चित्त में उदित रहता है (अर्थात् अणुज्ञान समष्टिभूत नहीं हो पाता) और भूत ज्ञान में एकाधिक अभिघातों की समष्टि द्वारा उत्पन्न ज्ञान चित्त में रहता है।

रूपतन्मात्र का उदाहरण देकर इस पद्धति और दृष्टि को विशद किया जा रहा है। पहले किसी बाह्य पदार्थ के रूप में चित्त को एकाग्र करना पड़ता है (प्रत्याहार के बल पर) और क्रमशः अन्य ज्ञानेन्द्रियों का रोध कर केवल चक्षु को सक्रिय रखना पड़ता है। इस स्थिति में रूपोत्पादक बाह्य क्रिया से चक्षु के सक्रिय होने पर (तथा बाह्य पदार्थ के स्पर्शादि अन्य धर्मों के ज्ञान न होने पर) चित्त में केवल रूप का ज्ञान उदित रहेगा। यही रूपलक्षण तेजोभूत का साक्षात्कार है। इस तेजोभूत के ज्ञान में रूपोत्पादक क्रिया तरङ्गों की एक समष्टि का ग्रहण इन्द्रियप्रणाली के माध्यम से चित्त द्वारा होता है, अतः जिसे हम 'रूप-ज्ञान' कहते हैं, वह अणु रूपज्ञानों (एक

अभिघात से उत्पन्न ज्ञान = अणु ज्ञान) की समष्टिविशेष है। पर यदि किसी का चित्त इतना स्थिर हो जाय कि वह एक रूपोत्पादक क्रियातरङ्ग से जो ज्ञान [वस्तुतः ज्ञानाणु] होता है, उसको पृथक् रूप से जान सके (अर्थात् चित्त में उदित रख सके) तो वह ज्ञान रूपतन्मात्र का साक्षात्कार है।

ध्यान देना चाहिए कि कोई साधक बाह्य जगत् को इस रूप से जान ही सकता है; भौतिक द्रव्य से तन्मात्र-अंश का पृथक्करण नहीं कर सकता। तन्मात्रज्ञान का प्रयोग अतीत-अनागत ज्ञान आदि में ही किया जा सकता है। प्रचलित विज्ञान द्वारा आविष्कृत अणु-शक्ति सम्बन्धित यन्त्रों के रचनादि में इस तत्त्वज्ञान का साक्षात् उपयोग नहीं है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि किसी भी यन्त्र से या किसी भी लौकिक प्रयत्न से ईदृश रूपज्ञान को चित्त में उदित रखना संभव नहीं है। यन्त्र या लौकिक प्रयत्नों से जो भी रूपज्ञान होगा वह लाल, नील, पीत आदि वर्ण विशेष से युक्त अवश्य होगा अर्थात् वह अणु-रूपज्ञानों की समष्टि अवश्य ही होगा। अध्यात्मशास्त्रोक्त उपायविशेष से ही ईदृश एक अणु ज्ञान का साक्षात्कार हो सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि Light photon रूपतन्मात्र नहीं है, क्योंकि वह रूप-विशेष से युक्त है; तन्मात्र अविशेष है।

रूपतन्मात्र के साथ सादृश्य मात्र है, ऐसा एक उदाहरण दिया जा रहा है। यन्त्रवैज्ञानिक पद्धति से यह निर्णीत हो चुका है कि हम लोगों को लाल रंग का जो अनुभव होता है, वह एक सेकेण्ड में ४०० × $१०^{१२}$ (चार के वाद १४ शून्य) संख्यक तरंगों[1] से उत्पन्न अनुभवों का समष्टिज्ञान है।

---

१. तरंगों की संख्या का जो निर्देश Physics शास्त्र करता है, वह मनुष्यप्रकृतिक चक्षु के अनुसार है। चक्षु की प्रकृति यदि अन्य प्रकार की हो जाय तो वही उत्तेजक उस चक्षु में एक ही रंग का ज्ञान करायेगा, यह नहीं कहा जा सकता।

इससे यह तो सिद्ध ही होता है कि एक तरंग से भी कुछ न कुछ लाल रंग की अनुभूति होती ही है (पर वह अनुभूति चित्तगोचर नहीं होती)। लाल रंग की यह अनुभूति तन्मात्रज्ञान सदृश है और वह क्रिया जिसकी है, वह तन्मात्र सदृश सूक्ष्मभाव है।

यह स्पष्टतया जान लेना चाहिए कि पूर्वोक्त एक तरंग से जिस अणुज्ञान की कल्पना यहाँ की जा रही है, वह वस्तुतः तन्मात्रज्ञान नहीं है[1] क्योंकि इस अणु रूपज्ञान में लाल वर्ण है जो रूप का एक विशेष है। इस स्थल पर बहुतों को यह भ्रम हो जाता है कि यही अणुलालरूप रूपतन्मात्र है। यह जानना चाहिये कि लाल रंग के अनुभव में 'निश्चित काल में निश्चित संख्यक तरंगों' की आवश्यकता है, नील और पीत रंग के अनुभव में भी निश्चित संख्यक (पर विभिन्न) तरंगों की आवश्यकता है (एक सेकेण्ड में)। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक रंग के एक तरंग से जनित अनुभव (वैज्ञानिक गणना के अनुसार) एक दूसरे से भिन्न होगा, अतएव यह अनुभव सर्वविशेष से रहित तन्मात्र का अनुभव नहीं हो सकता। रूपतन्मात्र के ज्ञान में स्वगत भेद नहीं है; वह 'चक्षु' द्वारा ग्राह्य मात्र है, पर लाल, नीलादि भेद से हीन है—रूपतन्मात्र कहने का तात्पर्य यही है। 'रूपमात्र' शब्द भी इसी दृष्टि से प्रयुक्त होता है। पुराणादि में शब्दमात्र, स्पर्शमात्र आदि शब्द इसी दृष्टि के अनुसार प्रयुक्त हुये हैं।

---

१. लाल रूप के उत्पादक तरंगों का एक तरंग जो रूपबोध उत्पन्न करेगा, वह भी लाल होगा; तथैव नीलरूपोत्पादक तरंगसमूहों का एक तरंग नील रूप को ही उत्पन्न करेगा (यद्यपि वह बहुत कुछ अग्राह्य होगा)। जिस प्रकार मृदंग की ध्वनि चाहे कितनी भी सूक्ष्म क्यों न हो जाय वह मृदंग ध्वनि की प्रकृति की ही होगी, घण्टाध्वनि की सूक्ष्म ध्वनि को अनुरूप नहीं इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। अतः यह अणु लालवर्ण सर्व-विशेष शून्य 'रूपतन्मात्र' नहीं है।

तन्मात्र की उपलब्धि में (अर्थात् शब्द, स्पर्श आदि में) स्वगत भेदों का बोध क्यों नहीं होता, इसका हेतु उपलब्धिप्रक्रिया को समझने से स्पष्ट होगा। तन्मात्रज्ञान के लिये बाह्य विषय से चित्त की अवधान वृत्ति को[1] हटाने की चेष्टा करनी पड़ती है। चित्त की अवधानवृत्ति को हटाने[2] की चेष्टा करते करते एक ऐसी स्थिति आती है, जब उससे अधिक मात्रा में अवधान वृत्ति को हटाने से विषय से चित्त का सम्पर्क ही विच्छिन्न हो जाता है। शब्द-स्पर्शादि की अनुभूति से चित्त को सम्यक् हटा लेने से ठीक पहले चित्त में जो ज्ञानस्तर उदित रहता है, वह तान्मात्रिक ज्ञान का स्तर है। अवधानवृत्ति की जिस स्थिति में तन्मात्र ज्ञान उद्भूत होता है, यदि अवधान वृत्ति को अधिकतर मात्रा में हटा लिया जाय, तो चित्त बाह्य विषयक्रिया से ऊपर उठ जायेगा और प्राणी का चित्त अपने उपादान अस्मिता में स्थित हो जायेगा— यह प्रयोग के बल पर कोई भी जान सकता है।

---

१. चित्त (= इन्द्रिय चालक रूप मन) के द्वारा कर्म-ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चप्राण रूप त्रिविध बाह्य इन्द्रियाँ नियन्त्रित एवं चालित होती हैं। प्रत्येक प्रकार की इन्द्रिय के ऊपर मन का जो आधिपत्य है, वह सर्वथा समान नहीं है, यह चित्त-स्थैर्य द्वारा पर्यवेक्षण करने से ज्ञात होता है। यही कारण है कि एक प्रकार की इन्द्रियों के रोध करने पर सभी इन्द्रियों का रोध नहीं हो जाता, इसके लिये पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है। तीन प्रकार की इन्द्रियों के साथ जो त्रिविध सम्बन्ध हैं, उनके अलग-अलग नाम भी थे। ज्ञानेन्द्रिय के साथ मन के सम्बन्ध का नाम अवधान वृत्ति है।

२. तन्मात्र के साक्षात्कार के लिए पद्धति यही है कि विषय के प्रति चित्त की जो अवधानवृत्ति है, उसको धीरे-धीरे हटायी जाती है। हटाने की क्रिया को वही कर सकता है जो इन्द्रिय द्वारा वाहित वैषयिक क्रिया द्वारा उत्पाद्यमान चित्तचाञ्चल्य का अनुभव कर सकता है। इस चाञ्चल्य की प्रकृति के अनुभव किये बिना भूत और तन्मात्र तत्त्व का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता।

विषय चित्त को बहिर्मुख करता है, अतः विषय-सम्पर्क को छोड़ देने से चित्त बाह्य-प्रवणता से रहित होकर अपने मूल में स्थित होगा। इस दृष्टि से ही हम कहते हैं कि **तन्मात्र बाह्य ज्ञान की अन्तिम सीमा है**, अर्थात् तन्मात्र पर्यन्त ही बाह्य बोध रहता है; तन्मात्र के सम्पर्क से विच्युत होने पर चित्त में बाह्य देश या दैशिक विस्तार (Spatial dimention) का बोध नहीं रहता। **इसी दृष्टि से ही तन्मात्र की अविभाज्यता है और यही कारण है कि तन्मात्र को शास्त्र में 'एकावयव' कहा गया है। अवयव-बोध के विना विस्तार-बोध नहीं हो सकता; तन्मात्रज्ञान में अवयव का बोध लुप्तप्राय हो जाता है** (अत्यन्त अस्फुट रूप से यह बोध रहता है)। इसलिये तन्मात्रग्राहक चित्तवृत्ति भी क्षणमात्र-व्यापिनी होती है।

इस 'क्षण' का परिमाण कितना है, यह कहना सम्भव नहीं होता, क्योंकि यह चित्त की ओर से ही निर्धारणयोग्य है। वैज्ञानिक पद्धति से हम कह सकते हैं कि नील, पीत, रक्त आदि वर्णों के उत्पादक कम्पन (तरंगविशेष) विभिन्न हैं। तुलना कर देखने से यह कहा जा सकता है कि जिस काल में लाल वर्ण का एक कम्पन होता है, उस काल में वायलेट या पीत वर्ण के कम्पन उससे भिन्न होते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यदि चित्तवृत्ति को अपेक्षित काल से कम कालव्यापी कर दिया जाय तो वायलेट आदि वर्णों का भी ज्ञान नहीं होगा। जब चित्तवृत्ति इतनी अल्पकालव्यापी हो जाती है कि वह उस क्रियातरंग का बोध कर सकती है, जो किसी भी रूपविशेष का उत्पादक नहीं है (अर्थात् रूपमात्र का उत्पादक है) तब 'चक्षु' से जो बाह्य सत्ता ज्ञात होती है, वह रूपतन्मात्र है। (यहाँ चक्षु का अर्थ चर्म-चक्षु नहीं है, बल्कि मस्तिष्कस्थ ज्ञानस्थान में अवस्थित रूपग्राहक सूक्ष्म शक्ति ही चक्षु है)।

तन्मात्रज्ञानोत्पादक क्रियातरंग के कम्पन का परिमाण क्या हो सकता है और गणित की भाषा में उसका प्रकटीकरण कैसे हो

सकता है, इस पर हम कार्य कर रहे हैं। बाह्य ज्ञान की साधक क्रियाओं की ग्राहक चित्त-शक्ति मनुष्य-देव आदि जातियों में एक रूप नहीं है, इसलिये गणितीय भाषा का प्रयोग यहाँ कुंठित हो रहा है। कितनी अल्प-समयव्यापी क्रिया चित्त द्वारा गृहीत हो सकती हैं (अस्पष्टरूप में भी), इसका परिमाप करना अशक्य प्रतीत होता है।

तन्मात्रज्ञान के साधक चित्तस्थैर्य की संभावनीयता

एक प्रश्न उठता है (और वैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रश्न उठना ही चाहिये) कि चित्त की जिस स्थिरता के द्वारा क्रिया के एक-एक तरंग से उत्पन्न उत्तेजना को जान सकने की बात कही जा रही है, क्या वैसा स्थैर्य संभव है? हमारा उत्तर है कि ऐसी स्थिरता सर्वथा संभव है तथा प्राकृतिक नियम[1] से ही यह स्थैर्य उद्भूत होता है। प्राकृतिक नियम का तात्पर्य यह है कि त्रिगुण के स्वभाव के अनुसार ही यह सूक्ष्म ज्ञान होता है (अभ्यास-विशेष की सहायता से) तथा सभी चित्तों को समान हेतु से समान ज्ञान होगा।

इस विषय में अध्यात्मवादी की प्रथम युक्ति यही है कि चित्त की स्थिरता में क्रमविकाश देखा जाता है।

चित्त का मूल उपादान प्रकृति है, जिसमें अनन्त सत्त्वगुण है। सत्त्वगुण के विकाश से ज्ञानशक्ति का विकाश होता है। उपाय

---

१. जो नियम समान परिस्थिति में समान फलप्रद है, वह प्राकृतिक नियम है। गर्मी, सर्दी, भूकम्प आदि के नियमों को हम इसीलिये प्राकृतिक नियम कहते हैं। इस प्रकार पक्षपातहीन होकर बारबार प्रवृत्त होना ही स्वाभाविकता है। गीता भी इस तत्त्व को 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' (५।१४) कहकर दिखाती है। योगजात विभूतियाँ भी प्राकृतिक नियम के अनुसार ही होती हैं। 'अलौकिक' दर्शन भी प्रकृतिसिद्ध कार्य है, उसमें वस्तुतः कोई अलौकिकता या अति-प्राकृतता नहीं है।

विशेष से प्रकृतिसंबन्ध-युक्त चित्त में सत्त्वगुण का असाधारण उत्कर्ष कर चित्त को अत्यन्त स्थिर किया ही जा सकता है।

रूपादि सूक्ष्म विषयों की सत्ता यदि प्रमाणित हो जाय और यदि यह भी प्रमाणित हो जाय कि वे सूक्ष्म विषय इन्द्रिय द्वारा व्यवहृत भी होते हैं, तो यह भी मानना होगा कि स्थूल इन्द्रियों के अनुरूप सूक्ष्म इन्द्रियाँ भी हैं। रूपवान् घट का ज्ञान जिस प्रकार चर्मचक्षु द्वारा साध्य है, स्वप्नकालीन रूपवान् घट का ज्ञान उस स्थूल चक्षु से उसी रूप से न होकर 'मानस चक्षु' द्वारा होता है, यह मानना पड़ता है, क्योंकि स्वप्नकाल में चर्म-चक्षु पूर्णतः कर्मक्षम नहीं रहता। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार्य विषय का स्तर जिस प्रकार का होगा, उसकी ग्राहक इन्द्रिय भी तदनुरूप स्थूल या सूक्ष्म होगी।

सूक्ष्म शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं, मनोविज्ञानशास्त्र इसका अस्वीकार नहीं कर सकता, अतः उसके ग्राहक इन्द्रियाँ भी होंगी।

तन्मात्र-साक्षात्कारकालीन बोध

शब्द, स्पर्श आदि तन्मात्रों के साक्षात्कार के समय किस प्रकार का बोध उदित रहता है, इसका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। यह पहले ही कहा गया है कि शब्द आदि के अवान्तर भेदों, (जैसे षड्ज, ऋषभ आदि; नील, पीत आदि; कटु, अम्ल आदि) का कोई बोध तन्मात्रज्ञान में नहीं रहता—शब्दमात्र, स्पर्शमात्र, रूपमात्र, रसमात्र, गन्धमात्र का बोध ही होता है। यही कारण है कि शास्त्र में विशेषशून्य तन्मात्र को 'अविशेष' कहा गया है।

गन्ध-तन्मात्र के साक्षात्कार के पहले सुरभि-असुरभि-भेदयुक्त[१] गन्ध

---

१. गन्ध के सुरभि-असुरभि भेद संस्कार की दृष्टि से है। गन्ध के अवान्तर भेद कितने हो सकते हैं—इसका निर्धारण करना दुरूह है। प्रायेण गन्ध के नौ प्रकार कहे जाते हैं। १० या ११ प्रकार की बात तो महाभारतादि में

गुण के गुणी पृथिवीभूत का साक्षात्कार (चित्तस्थैर्य विशेष के बल पर) करना पड़ता है। गन्ध गुण के उत्पादक क्रियातरंगों[1] में से एक तरंग का पृथक् कर ग्रहण करने पर गन्ध का जो ज्ञान होगा, उसमें किसी गन्ध विशेष का ज्ञान नहीं होगा। विशेष प्रकार की गन्ध का बोध गन्धोत्पादक क्रियातरंगों की एक समष्टिविशेष के एक साथ ग्रहण करने पर ही उद्भूत होता है। गन्ध-विशेष के बोध में चित्त-इन्द्रिय-शरीर की प्रकृतियों का भी प्रभाव होता है। गन्धोत्पादक क्रियाओं की जिस समष्टि से मनुष्य प्रकृति के शरीरधारो में जिस गन्ध का जैसा बोध होगा, अन्य प्रकार के शरीरधारी प्राणियों में उस समष्टि से उसी प्रकार का बोध नहीं होगा। शास्त्र का यह भी कहना है कि प्रत्येक समष्टि के साथ सुख-दुःख-मोह का बोध भी अविनाभावी रूप से उदित होता है। हम केवल गन्धज्ञान ही नहीं करते, बल्कि गन्ध से

मिलती है। An Introduction to Psychology ग्रन्थ में M. W. Calkins ने Zwaardemacker नामक एक डच physiologist का उल्लेख किया है, जो ethereal, aromatic, fragrant आदि ९ प्रकार की गन्ध मानते थे (पृ० ६०)।

१. ऐसा नहीं समझना चाहिए कि रूप, ताप और शब्द का बोध हो तरंग-आश्रित है। रस और गन्ध बोध को उत्पादिका जो क्रिया है, वह भा तरंगरूप ही है। अध्यात्म-शास्त्र के अनुसार प्रत्येक क्रिया संकोच-विकासवती है। शरीर-इन्द्रियों की प्रकृति के अनुसार क्रियाजनित बोध में भेद होता है। प्रायेण गन्धबोध कणों से होता है, रस का बोध तरल द्रव्यों से होता है इत्यादि; पर ये कण आदि उन इन्द्रियों में एक प्रकार का उत्तेजना (stimulus) देते हैं (उत्तेजना क्रियारूप ही है) जो मस्तिष्क में वाहित होकर चित्त में गन्धादि ज्ञान उत्पन्न करती है। जिनको हम 'कण' या 'तरलित भाव' कहते हैं, उनमें भी स्वगत क्रिया है। इस क्रियास्वभाव के कारण ही कोई पदार्थ इन्द्रिय को चंचल करता है।

आह्लादित आदि भी होते हैं; और इन आह्लाद आदि बोधों को छोड़कर केवल गन्ध का ज्ञान करना असंभव है। एक अभिघात से उत्पन्न गन्ध के बोध में सुखादि का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि किसी विशेष प्रकार की गन्ध के प्रति ही आसक्ति होती है, जो सुखबोध का मूल हेतु है। तन्मात्रज्ञान अणुमात्र ज्ञान है, क्योंकि तन्मात्र से सूक्ष्मतर भाव समाहित चित्त के द्वारा भी प्रत्यक्ष नहीं होता।

रसतन्मात्र के साक्षात्कार में भी इसी प्रकार पहले कटु-लवणादि-भेदों से युक्त अप्भूत (जलभूत) का साक्षात्कार करना पड़ता है। जिह्वा में जो क्रिया हो रही है, उसको पृथक् रूप से देखना ही साक्षात्कार है। हम छह रसों की जो बात करते हैं (कटु, तिक्त, कषाय, लवण, मधुर, अम्ल)—यह प्रायिक है। यह एक प्रकार की जिह्वा के अनुसार है। इन्द्रधनुष के सात रंग जिस प्रकार प्राधान्य दृष्टि से हैं, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। रसतन्मात्र के साक्षात्कार काल में कटु आदि रसों का बोध नहीं रहता।

रूपतन्मात्र के साक्षात्कार-काल में पहले नीलादि वर्णों से युक्त भूत का साक्षात्कार करना पड़ता है। इसी प्रकार शीतोष्ण स्पर्श-गुणक वायुभूत का और आकाशभूत का साक्षात्कार कर ही कोई स्पर्शतन्मात्र तथा शब्दतन्मात्र का ज्ञान कर सकता है। शब्दगुणक जड बाह्य द्रव्य आकाश है। शब्दादि पञ्च गुणों से शून्य कोई बाह्य स्थान आकाश है—यह अशास्त्रीय कल्पना है। ईदृश कोई शून्य स्थान है—यह वैज्ञानिक दृष्टि से भी प्रमाणित नहीं होता।

तन्मात्र-साक्षात्कारी इन्द्रिय का प्रकृत रूप

कर्ण आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों से यथाक्रम शब्दादि गुण जाने जाते हैं। ये इन्द्रियाँ बाह्य अधिष्ठान की दृष्टि से शरीर के यन्त्रविशेष हैं। जब तन्मात्र का ज्ञान उदित होता है, तब 'एक क्रिया के अभिघात' से उत्पन्न गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द का ज्ञान होता है। यहाँ एक प्रश्न उठता

है कि क्या ये शरीरयन्त्ररूपी इन्द्रियाँ ही इस ज्ञान की वाहक हैं ? क्या हमारी यन्त्ररूपो इन्द्रियों में यह सामर्थ्य है कि वे ऐसे सूक्ष्म ज्ञान की वाहक हो सकती हैं ?[1]

उत्तर यह है कि शरीर यन्त्ररूपी इन्द्रियाँ स्वतः तन्मात्ररूप सूक्ष्म ज्ञान की वाहिका नहीं हो सकतीं। तन्मात्र के प्रसंग में इन्द्रिय का अर्थ है—बाह्य ज्ञान-कारक इन्द्रियशक्ति जो चित्त में प्रतिष्ठित रहती है। इस इन्द्रिय का परिज्ञान इन्द्रिय के शारीरिक यन्त्र में—ज्ञाननाड़ी के मूलस्थान में—योग-शास्त्रीय धारणा करने पर ही होता है।

अभौतिक[2] इन्द्रियों की शक्ति शरीर में प्रतिष्ठित होने के कारण बहुत कुछ क्षीण हो जाती है। समाधिविशेष के बल पर शरीर को जड़वत् करने पर ही शारीरिक स्थूलता से अनियन्त्रित होकर इन्द्रियशक्ति अपनी मौलिक शक्ति को पा जाती है। उस समय प्रकृत इन्द्रिय के बाह्य शारीर यन्त्ररूप अधिष्ठान

---

१. पर्यवेक्षण करने से पता चलता है कि स्थूल इन्द्रियों की शक्ति लौकिक अभ्यास से भी विकसित होती है। मैंने प्रामाणिक व्यक्तियों से सुना है कि काश्मीरी शाल के निर्माता तन्तुवाय ३०० वर्ण और उनके शेडों (Shades) को पृथक् कर जानने की शक्ति रखते हैं। गन्धज्ञान के क्षेत्र में भी ऐसी शक्ति का उदाहरण प्राप्त होता है। तन्मात्रज्ञान करने की शक्ति लौकिक इन्द्रियशक्ति की वृद्धि से नहीं होती। वस्तुतः शरीर को जडवत् किये बिना किसी भी सूक्ष्म पदार्थ का अनुभव नहीं होता।

२. अध्यात्मशास्त्र जिस प्रकार बाह्य पदार्थ के नाना स्तरों की बात कहता है-भौतिक, भूत तथा तन्मात्र, उसी प्रकार इन्द्रिय के भी स्तर भेद की बात करता है; यथा—(१) शरीर की यन्त्ररूपी इन्द्रिय, (२) शब्दादि-विषयाकार में इन्द्रिय का परिणाम तथा (३) विषयक्रियाग्राहक द्वार जो चित्त-स्थित है। भौतिक बोध में प्रथम प्रकार की इन्द्रिय प्रमाण होती है।

के साथ इन्द्रिय शक्ति का सक्रिय संबन्ध नहीं रह जाता; यही कारण है कि इन्द्रिय-वाहित क्रिया का एक-एक अभिघात पृथक् रूप से गृहीत होता है। यद्यपि यह 'गृहीत होना' चित्त का कार्य है, तथापि बाह्य शरीरादि के स्थैर्य के विना चित्त में ऐसा सूक्ष्म ज्ञान उदित नहीं हो सकता।

इन्द्रिय का बाह्य शारीरिक अधिष्ठान चाहे विकृत हो जाए या न रहे, भूत-तन्मात्र के साक्षात्कार में बाधा नहीं होती[1], पर भौतिक पदार्थज्ञान में बाधा अवश्य होगी। शरीर को जडवत् किए विना इन्द्रिय की यह शक्ति प्रकटित नहीं हो सकती। यही कारण है कि पूर्वाचार्यों ने तन्मात्र को 'संप्रज्ञात समाधि द्वारा ज्ञेय' कहा है। ध्यान देना चाहिये कि अध्यात्मशास्त्र तन्मात्र को 'समाधि द्वारा ज्ञेय' के रूप में ही कहता है। अतः जो विद्वान् यह समझते हैं कि तन्मात्र Photon जातीय वस्तु है (रूपतन्मात्र = Light quantum) वह शास्त्रीय दृष्टि को नहीं जानते। इस Photon के साथ समाधिरूप चित्तस्थैर्य का संबन्ध नहीं है। इसी प्रकार यह कहना भी असंगत है कि सूर्य की श्वेत रश्मि (White ray of the sun) तन्मात्र है, जैसा कि आधुनिक कुछ आलोचकों ने कहा है। इस श्वेत रश्मि के ज्ञान में भी अनेक क्रिया-तरंगों से चित्त स्पन्दित होता है। वस्तुतः श्वेत रश्मि 'रूपमात्र' नहीं है।

---

१. रूपादि-ज्ञान में आक्षिक स्नायु (Optic Nerve), Retina आदि की सहायता मानी जाती है। स्नायु-नाडी-निरपेक्ष केवल मस्तिष्क स्थित ज्ञानस्थान द्वारा भी रूपादि ज्ञान हो सकता है; वर्तमान मनोविज्ञान और शरीर-विज्ञान के पत्रिकाओं में Extra Sensory Perception नाम से इस 'दिव्य दृष्टि' का परिचय दिया जा रहा है। 'समाधि के द्वारा स्थैर्य का काष्ठाप्राप्त इन्द्रियों से तन्मात्र का साक्षात्कार होता है' यह योगविदों का कहना है।

तन्मात्र-साक्षात्कारकाल में अनुभवगम्य रूपादि-विषयक सूक्ष्म तथ्य

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में प्रक्रिया-विशेष से समाहित होकर तन्मात्र का साक्षात्कार किया जाता है—यह कहा गया है। साक्षात्कारकाल में अनुभवनीय कुछ सूक्ष्म तथ्यों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया जाता है।

रूपतन्मात्र के साक्षात्कारकाल में किसी पदार्थ के रूप में दृष्टिशक्ति[1] को प्रक्रियाविशेष से स्थिर करना पड़ता है। प्रतीयमान रूप का यह ज्ञान क्रमशः सूक्ष्म होता हुआ स्वगत भेदहीन रूपमात्र के ज्ञान में पर्यवसित होता है [यह ज्ञातव्य है कि ज्ञेय पदार्थ तन्मात्र में परिणत नहीं होता; बाह्य ज्ञेय वस्तु का स्वगत परिणामक्रम स्वप्रतिष्ठ है]। **इन विभिन्न रूपों के ज्ञान में प्रत्येक रूप का ज्ञान समान-कालव्यापी नहीं होता**, अर्थात् एक फूल के रूप में समाहित होकर रूपतन्मात्र के ज्ञान होने से पहले अनेक रूपज्ञान के स्तरों का अनुभव होता है; इन स्तरों के अनुभव का काल समान नहीं होता।

ऐसा जान पड़ता है कि प्रत्येक रूपस्तर की स्वगत क्रिया में भेद है, जिससे अनुभवकाल का यह भेद होता है। यह निश्चित है कि विभिन्न

---

१. तन्मात्र के साक्षात्कारकाल में शारीरिक क्रियाओं का रोध अपेक्षित होता है। उस समय शरीर मृतवत् हो जाता है और शरीरस्थित इन्द्रिय-स्थान निष्क्रिय हो जाते हैं। रूपतन्मात्र के दर्शनार्थ जिस दर्शनशक्ति का प्रयोग किया जाता है, वह चित्तगत द्वार है। स्थूल रूपक्रिया का ज्ञान चर्म-चक्षु का सापेक्ष है; सूक्ष्म रूपक्रिया चर्मचक्षु का सापेक्ष नहीं है। वस्तुतः इन्द्रिय शक्ति के भी क्रमिक सूक्ष्मस्तर हैं। अतः Retina आदि के नष्ट हो जाने पर भी सूक्ष्म रूप के ज्ञान में इन्द्रिय समर्थ होती है। Super sensory organ के रूप में यह प्राचीन मत आज प्रचलित है।

रूपवान् पदार्थों में समाहित होकर रूपतन्मात्र का ज्ञान किया जा सकता है। यद्यपि तन्मात्र का ज्ञान एक ही प्रकार का होता है (अर्थात् नील, लाल, पीला आदि किसी भी वर्ण से युक्त पदार्थ का आश्रय कर रूपतन्मात्र का बोध करने से वह बोध एकरूप ही होगा) तथापि उत्पादक पदार्थ (जिसका अवलम्बन कर तन्मात्र-ज्ञान किया जा रहा है) के भेद से तन्मात्र-ज्ञान का काल-परिमाण भिन्न-भिन्न होता है। यथा लालवर्ण में समाहित होकर रूपतन्मात्र तक पहुँचने में जितना काल लगता है, नील वर्ण में समाहित होकर रूपतन्मात्र तक पहुँचने में उतना ही काल नहीं लगता [इन्द्रिय-स्थैर्य का प्रयत्न समान है—यह मानकर]—यह अनुभवसिद्ध है।

इस प्रक्रिया (experiment) से यह अनुमित होता है कि विभिन्न वर्णों का बोध जिन तरंगों के कारण होता है, वे तरंग विभिन्न वर्णों के क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के हैं। भौतिकी शास्त्र में इस तरंगभेद की चर्चा है।

रूप (आलोक) भी अन्य बाह्य पदार्थों की तरह जाड्यधर्मवान् है।[1] यह तन्मात्रसाक्षात्कार में स्पष्टतया विज्ञात होता है [भूतज्ञान में भी यह तथ्य ज्ञात हो जाता है।] यही कारण है कि आकर्षण शक्ति का फल रश्मि पर भी होता है। रूप या आलोक रजः प्रधान है, इसलिये वह आकर्षण शक्ति से अल्प ही आकृष्ट होता है [मई १९१९ में सूर्यग्रहणकालीन सूर्य-रश्मि की वक्रता इस प्रसंग में द्रष्टव्य है]।

---

१. रश्मि जड पदार्थ है; यही कारण है कि रश्मि को पकड़कर (रस्सी की तरह) योगी इधर-उधर आ-जा सकते हैं—ऐसा कहा जाता है। व्यास-भाष्य (३।४२) में 'रश्मिषु विहरति' वाक्य इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। Light का भी pressure है जैसा कि Maxwell ने दिखाया है (द्र० Sir W. C. Dampier कृत A Shorter History of Science ग्रन्थ, पृ० 101); द्र० Compton effect.

बाह्य पदार्थ में अवस्थित गन्ध के आश्रय से जिस प्रकार तन्मात्र तक पहुँचा जा सकता है, अपने शरीर की गन्ध (नासिका स्थित शरीर धातु की गन्ध; यह गन्ध प्रक्रियाविशेष से जानी जा सकती है) का आश्रय कर भी तन्मात्र तक पहुँचा जा सकता है। वस्तुतः शरीर के अन्तर्गत शब्द, स्पर्श आदि को संयमकारी व्यक्ति विषय के रूप में लेकर भूत और तन्मात्र का ज्ञान कर सकते हैं। अनाहत शब्द (वक्षःस्थित ध्वनि) सर्वोत्तम अवलम्बन है। जिह्वा का रस, चक्षुःस्थ Entoptic photism आदि शारीरिक अवलम्बन हैं।

तन्मात्र का उपादान कारण

तन्मात्र बाह्य भौतिक द्रव्यों का उपादान है, यह निश्चित होने पर यह प्रश्न भी उठता है कि तन्मात्र का भी कोई बाह्य उपादान कारण है या नहीं। बाह्य पाञ्चभौतिक (पञ्चभूत से जात) द्रव्यों का कारण यदि बाह्य पञ्चभूत हैं और बाह्य पाँच भूतों का कारण यदि पाँच बाह्य तन्मात्र हैं, तो तन्मात्र का भी तो कोई बाह्य उपादान कारण होगा[1]। शास्त्रानुसार तन्मात्र 'व्यक्त' विकार-भूत पदार्थ है, व्यक्त होने के कारण तन्मात्र का उपादान भी होगा, हेतु भी होगा। तन्मात्र किसी पर आश्रित भी होगा तथा किसी काल में उसकी उत्पत्ति भी होगी। पहले उपादानकारण पर विचार किया जा रहा है।

अध्यात्मशास्त्र का कहना है कि तन्मात्र का उपादानकारण बाह्य रूप से उपलब्ध नहीं होता। इस निर्धारण में एक प्रयोग (experiment) है। वह यह है कि ज्ञानशक्ति की जिस स्थिरता से पञ्चतन्मात्रों की

१. इस विषय में यह दृष्टि स्वीकार्य है कि जो कार्य होता है, वह कारण से व्याप्त होता है; जो परिच्छिन्न होता है वह व्यापक से व्याप्त होता है; जो स्थूल होता है वह सूक्ष्म से व्याप्त होता हैं (द्र० बृहदा० ३।६।१ का शांकरभाष्य और गिरिटीका)।

उपलब्धि होती है, उस ज्ञानशक्ति को अधिकतर स्थिर करने पर बाह्य ज्ञान ही लुप्त हो जाता है अर्थात् वह ज्ञानशक्ति बाह्य क्रिया से उपरंजित नहीं होती। यह 'लुप्त' हो जाना सिद्ध करता है कि तन्मात्र का कोई सूक्ष्मतर बाह्य उपादान नहीं है। यही कारण है कि अध्यात्मशास्त्र की मान्यता है कि तन्मात्र से सूक्ष्मतर बाह्य पदार्थ साक्षात्करणीय नहीं है। तन्मात्रस्तर पर्यन्त ही देशज्ञान की सीमा है।

युक्ति से भी यह बात संगत ही प्रतीत होती है। पाञ्चभौतिक भाव में विभिन्न भूतों का संमिश्रण उपलब्ध होता है। एक-एक भूत में शब्दादि गुणों के स्वगत भेद रहते ही हैं; पर तन्मात्र में स्वगत भेदों से हीन शब्द स्पर्श आदि हैं। यह कोई भी समझ सकता है कि स्वगत भेद से शून्य शब्दमात्र का उपादान कोई सूक्ष्मतर शब्द नहीं हो सकता। इसी प्रकार अविशेष रूपतन्मात्र का उपादान कोई सूक्ष्मतर रूप नहीं हो सकता। इस प्रकार यह सोचा जा सकता है कि तन्मात्र-स्तर से सूक्ष्मतर ऐसा कोई उपादान संभव नहीं है, जिसमें शब्द, स्पर्श-रूपादि पाँच गुणों की सत्ता हो।

अध्यात्मशास्त्र कहता है कि तन्मात्र रूप बाह्य पदार्थ के चरम उपादान का नाम 'अहंकार' (या अस्मिता) है; अहंकाररूप मनोजातीय द्रव्य से बाह्य तन्मात्र का आविर्भाव होता है।

सुनने में यह प्रलापवत् जान पड़ता है कि मनोजातीय पदार्थ से बाह्य पदार्थ का उद्भव होता है। पर सत्य तो यह है कि यह दृष्टि अध्यात्मविद्या के सर्वोच्च आविष्कारों में अन्यतम है। हम यह दिखायेंगे कि इस मत को माने विना दर्शन और विज्ञान की चिन्ताओं की संगति नहीं लगायी जा सकती।

पहले हम उस युक्ति को कहेंगे जिससे मनोजातीय पदार्थ को बाह्य जगत् के मूल के रूप में मानने के लिये हम बाध्य हो जाते हैं। यह पहले ही कहा गया है कि शब्दमात्र की उत्पत्ति जिससे होती है (अर्थात् जो बाह्य क्रिया इन्द्रिय द्वारा वाहित होकर चित्त में शब्द का बोध उत्पन्न करता है

उसमें शब्द नहीं है। इसी प्रकार स्पर्श-तन्मात्र, रूप-तन्मात्र, रस तन्मात्र, गन्ध-तन्मात्र के उत्पादक हेतु में स्पर्श-रूपादि नहीं हैं—यह निश्चित होता है[1]। अब सोचना चाहिये कि जिसमें शब्द-स्पर्श-रूप रस-गन्ध रूप पांच गुण नहीं हैं, वह देशव्यापी पदार्थ [जिसका Spatial dimention है] नहीं हो सकता। अध्यात्मशास्त्र का यह निश्चित मत है कि शब्दादि गुण-हीन पदार्थ देशव्यापी नहीं हो सकता। बाह्य विस्तार (extention) का बोध शब्दादि-गुणों के ज्ञान पर निर्भर है, अर्थात् रूप-स्पर्श-शब्द आदि का ज्ञान होने पर ही विस्तार का बोध होता है। केवल विस्तार (Empty Space) नाम का कोई सत् पदार्थ नहीं है। किसी हेतु से [जो हेतु बाद में कहा जायेगा] दैशिक विस्तार (कालिक विस्तार भी) का बोध होता है; 'केवल विस्तार' वस्तुतः वस्तुशून्य चिन्तामात्र है। बाह्य विस्तार का बोध भूतज्ञान पर आधृत है, यह सत्य ऋग्वेद में भी भाषित हुआ है—भुव आशा अजायन्त [१०।७२।४][2]

तन्मात्र का यह उपादान कारण यदि देशव्यापी नहीं है, तो वह अवश्य ही कालव्यापी होगा, क्योंकि 'देशव्याप्ति' और 'कालव्याप्ति' के अतिरिक्त

---

१. बाह्य क्रिया से अभिहत होकर जो प्रेरणा (Nerve-impulse) नाडी द्वारा वाहित होती है, वह चित्त में शब्द, स्पर्श आदि में से किस बोध को उत्पन्न करेगा, यह निर्धारित नहीं किया जा सकता। किंच उस प्रेरणा में शब्दादि है - यह कहना भी असंगत है। अतः यही मानना संगत होता है कि शब्द-स्पर्श-रूप आदि ज्ञान चित्त में ही उत्पन्न होते हैं। ज्ञान को उत्पन्न करने का हेतु बाह्य जगत् में हैं।

२. सायण ने ऋग्वेद-भाष्य में इस वाक्य की व्याख्या नहीं की। भू= पृथिवी; पृथिवी से 'ग्राह्य विषय' रूप अर्थ लिया जा सकता है। आशा=दिक् अर्थात् विस्तार। अतः मन्त्र का अर्थ है--ग्राह्य विषय रूप हेतु से विस्तार (का बोध) उत्पन्न होता है। तुलनीय सांख्यसू० दिक्कालौ आकाशादिभ्यः[२।१२]

अन्य किसी प्रकार की व्याप्ति का अस्तित्व ज्ञात नहीं है। दैशिक और कालिक पदार्थ से पृथक् अन्य किसी प्रकार के पदार्थ की कल्पना भी नहीं की जा सकती। विस्तार-दैर्घ्यादिहीन पदार्थ कालव्यापी है; ऐसे द्रव्य की क्रिया क्षण-क्षण में होती है।

यह परिणामी कालव्यापी पदार्थ मनोजातीय वस्तु ही होगा, क्योंकि मन (= अन्तःकरण) ही ईदृश पदार्थ है, जो क्रियाशील होकर भी शब्दादि गुणों से हीन ही है। तन्मात्र का उपादान-भूत पदार्थ क्रियाशील है [क्यों कि उसकी क्रिया से प्राणी के चित्त में शब्दादि ज्ञान उद्भूत होता है], साथ ही शब्दादिहीन भी, अतः यह उपादान मनोजातीय ही होगा—यह सिद्ध होता है। इस 'मानस उपादान' का प्राचीन नाम है [जो अध्यात्मशास्त्र में है] —'भूतादि'। यह अहंकार द्रव्य का तामस भाग है—ऐसा पूर्वाचार्यों ने कहा है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य विषयों का उपादान मनोजातीय वस्तु है। यह तथ्य श्रुति-स्मृति-पुराणों में बहुधा उक्त हुआ है। शतपथ (माध्यन्दिन) का वाक्य द्रष्टव्य—आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत् तद् ह मन एवास ...तदिदं मनः सृष्टम् आविरबुभूषत् [१०।५।३।२]। जड द्रव्यमूल को विद्युत्रूप मानने वाले भी इस वैदिक 'मन-उपादान वाद' को स्वीकार करने के लिये बाध्य हो जाते हैं[1]। (इस पर विचार यथास्थान द्रष्टव्य)।

---

१. When the energy is substituted for force the Vedic scheme of development becomes identical with the one which expresses the most recent developments of physical research, viz, the Absolute or Eternal Self Consciousness-Mind—Energy-Ether—Matter (A Treatise on Electrical Theory and the Problem of the Universe. p 505).

हम समझते हैं कि वैज्ञानिक भी इस मन-उपादान बाद की ओर आ रहे हैं। A. Eddington का वाक्य "The stuff of the world is mind-stuff" [The Nature of the Physical World, p. 278] इस प्रसंग में आलोच्य है।[1] Harvard के Geologist K. F. Mather भी कहते हैं—The universal reality is mind। जगत् की रचना में किसी महामन का व्यापार है, यह चिन्ता तो आज वैज्ञानिक क्षेत्र में सामान्य बात है; प्रकृत बात तो यह है कि बाह्य जगत् का उपादान भी बाह्य जातीय पदार्थ नहीं हैं—यह भी वैज्ञानिक को बाध्य होकर मानना पड़ रहा है। यही कारण है कि विश्व के मूल उपादान को impalpable entity कहा जा रहा है [L. Bolton कृत Relativity. p. 175 द्रष्टव्य]। यदि बाह्यजगत् के मूल उपादान को 'बाह्य रूप से प्राप्तव्य' के रूप में समझा जाता तो impalpable शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता।

जडद्रव्य के क्षुद्रतम उपादान के रूप में स्वीकृत Electron आदि के स्वभाव और कार्य भी मानस उपादान को आंशिक रूप से लक्ष्य कर रहे हैं। विद्युत्कणरूप इलेक्ट्रन का एक कक्ष से अन्य कक्ष में गमन (एक चक्राकार पथ से अन्य चक्राकार पथ में) करने में देश का व्यवधान (मानो) नहीं है—ऐसा ज्ञात होता है। देशव्यापी बाह्य जड़ पदार्थ का ऐसा स्वभाव नहीं

---

१. All through the physical world runs an unknown content which must really be the stuff of our own consciousness. (Sir A. Eddington); इस तथ्य का प्रकाश जेम्स जीन्स के 'Modern physics is moving in the direction of philosophical idealism (Presidential Address to the British Association in Sept. 1935) वाक्य से भी होता है।

हो सकता। इस तथ्य से सिद्ध होता है कि जैसे-जैसे हम विश्व के मूल उपादान की ओर जाते रहेंगे, हमें मानसधर्म का प्रभाव (अर्थात् बाह्य नियन्त्रण में न रहने का स्वभाव) अधिकतर प्रतीत होगा और यही कारण है कि इलेक्ट्रन में पूर्वोक्त गति दिखाई पड़ती है [हमारी दृष्टि में इलेक्ट्रन के गमन में देशव्यवधान अत्यल्पतम है]। इलेक्ट्रन की स्थिति और गति का यथार्थ निर्धारण करना यन्त्रबल से सम्भव नहीं है[१]—यह अनिश्चितता वैज्ञानिकों के सामने एक समस्या की तरह खड़ी है।[२] मानस धर्म की अल्पतर अभिव्यक्ति होने के कारण अपेक्षाकृत स्थूल यन्त्र द्वारा यह निर्धारण नहीं हो पा रहा है।

---

१. प्रसिद्ध जीवविज्ञानी Haldane का वाक्य द्र० One of the most amazing features of quantum mechanical theory is the discovery that electrons and other elementary particles will leak through a potential barrier which they could never cross if the classical physics were true.......... (The Marxist Philosophy and the Sciences, pp. 145-146)

२. द्र. In a wave group there is an essential uncertainty in either the position or the velocity of a particle (A Shorter History of Science p. 171); There was no means of knowing which radio-active atom would explode next. Even if each atom becomes calculable as a whole, we can not fix both the position and the velocity of its electrons; a fundamental principle or uncertainty seems to lie at the base of our model of nature. (p. 173).

यह भी ज्ञातव्य है कि इलेक्ट्रन आदि का स्वरूपतः पर्यवेक्षण करना असम्भवप्राय हो रहा है। क्योंकि पर्यवेक्षण की प्रक्रिया ही इन विद्युत् कणों को परिवर्तित कर देती है। यह स्वभाव मानस क्षेत्र में सर्वत्र देखा जाता है। यथा—कामादिवृत्तियों को यदि स्थिर होकर देखा जाय तो वे शान्त होने लगती हैं। मानस क्षेत्र का यह स्वभाव अंशतः जड़ कणों (इलेक्ट्रन आदि तो जड–कण ही हैं) के सूक्ष्म स्तरों में लक्षित होगा, क्योंकि यह स्तर मानस क्षेत्र की ओर जा रहा है। पुनः यह स्पष्टतया जान लेना चाहिये कि इलेक्ट्रन आदि भौतिक स्तर के अन्तर्गत एक 'सूक्ष्म'-स्तर के पदार्थ हैं। इनमें मानस धर्मों का आवेशमात्र है। मानस स्वभाव का स्पष्ट प्रतिफलन तन्मात्र में दृष्टिगोचर होता है, जैसा कि यथास्थान दिखाया जायेगा।

भूतादि-अहंकार से तन्मात्र की उत्पत्ति

युक्ति से यह समझने पर भी कि मनोजातीय भूतादिद्रव्य तन्मात्रों का उपादान है, मन में संशय होता है कि मनोमय भूतादि-उपादान से बाह्य तन्मात्रों की उत्पत्ति कैसे संभव है ? अध्यात्मशास्त्र का कहना है कि प्राणी द्वारा व्यवहार्य विषयों के मूलीभूत तन्मात्रों का उपादान 'भूतादि अहंकार' किसी शक्तिमान् पुरुषविशेष में प्रतिष्ठित है; उस पुरुषविशेष के चित्त में जगत् सृष्टि का संकल्प है, जिस संकल्प से भूतादि अभिव्यक्त होता है और साधारण प्राणियों के ग्राह्य विषयरूप में आता है। भूतादि जब व्यक्त होता है, तब वह सजातीय संबन्ध से अन्य सभी प्राणियों के चित्त को प्रभावित (उपरंजित) करता है। चूंकि सभी प्राणियों के मन (अपने पूर्व संस्कारों के कारण) अन्य शक्तिशाली मन के द्वारा प्रभावित होने के संस्कार से युक्त हैं, इसीलिये प्रत्येक प्राणी ग्राह्यीभूत भूतादि को विषय के रूप में पाकर उसका संस्कारानुरूप व्यवहार करता रहता है।

इस भूतादि रूप मानस उपादान की क्रिया अत्यन्त सूक्ष्म है [क्योंकि भूतादि की क्रिया जगत् सृष्टिकारी पुरुषविशेष के महामन की क्रिया है] अतः उस क्रिया के तरंगों को साधारण असिद्ध प्राणियों के मन एक-एक

कर ग्रहण नहीं कर पाते, बल्कि एक-एक समष्टि के रूप में ही ग्रहण करते हैं; अर्थात् एक क्रिया का ग्रहण न कर क्रियातरंगों की एक समष्टि का ही ग्रहण कर पाते हैं। **इस प्रकार एक एक समष्टि के ग्रहण करने के कारण विस्तार (extention) का बोध होता है। यही कारण है कि मनोजातीय भूतादि द्रव्य के कालिक क्रियातरंगों के ज्ञान के साथ-साथ पूर्व संस्कार के अनुसार बाह्य विस्तार का बोध भी उठता है।** दैशिक विस्तार बोध का यह प्राथमिक स्तर है, यह अत्यन्त अस्फुट विस्तार बोध है। ;यही अस्फुट दैशिक बोध तन्मात्रज्ञान के समय रहता है। जिन प्राणियों की चित्तशक्ति और भी अधिक स्थूल है, उनको 'शब्दमात्र' 'स्पर्शमात्र' रूप बोध के स्थान पर (समष्टि का ग्रहण करने के कारण) शब्द आदि के स्वगत भेदों का भी ज्ञान होने लगता है, अर्थात् किसी एक तरंग का ज्ञान न होकर एक साथ अनेक एकजातीय तरंगों का ज्ञान होता है। ज्ञानशक्ति की जड़ता के कारण ही ईदृश तरंग-समष्टि का ज्ञान होता है। एकजातीय तरंग-समष्टि का बोध होना ही भूततत्त्व साक्षात्कार है।

जिन प्राणियों के चित्त इतने चंचल हैं कि वे एकजातीय क्रियाओं का ग्रहण करने में भी असमर्थ होते हैं और नानाजातीय क्रियाओं का ग्रहण एक साथ करते हैं, वे शब्द स्पर्श आदि पांच गुणों से युक्त बोध ही करते हैं; यह भौतिक बोध है। भौतिक पदार्थ कर्मेन्द्रिय का भी व्यवहार्य होता है।

प्राणी द्वारा भूतादि-उपादान का ग्रहण

अभी तक हम यह दिखा रहे थे कि भूतादि मन सजातीय होने के कारण प्राणियों के मन को प्रभावित कर उस मन में शब्द-स्पर्शादि बोध को उत्पन्न करता है; ये सब बोध आविर्भूत होने से पहले संस्काररूप में प्राणी के चित्त में रहते हैं—यह अध्यात्मशास्त्र का सिद्धान्त है।

पर बाह्य विषय में शब्द स्पर्श आदि पांच ज्ञेय धर्मों के अतिरिक्त चलनरूप कार्यधर्म तथा रोधरूप धार्यधर्म भी हैं; इन त्रिविध धर्मों की उत्पत्ति

कहाँ से होती है? उत्तर यह है कि भूतादि रूप मन के त्रिविध धर्म हैं-प्रकाशन क्रिया और विधारण। उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी के मन में भी ये तीन धर्म हैं। भूतादि मन का प्रकाशनरूप धर्म ग्राह्यभूत होकर जिस प्रकार प्राणी के मन में शब्द-स्पर्श-रूप आदि पाँच प्रकाश्य धर्मों की उद्भावना करता है, उसी प्रकार भूतादि का क्रियाधर्म प्राणी के मन में कार्यधर्म का बोध तथा भूतादि का विधारणधर्म प्राणी में धार्यधर्म का बोध उत्पन्न करता है। प्रजापति का भूतादि-रूप मन तथा प्रत्येक प्राणी का मन अत्यन्त सजातीय पदार्थ हैं, अतः प्राणी का मन सजातीय सम्बन्ध के कारण एक अन्य मन द्वारा सहज रूप से प्रभावित होकर उपर्युक्त त्रिविध धर्मों का बोध करता है—यह स्वाभाविक है।

पूर्वोक्त त्रिविध धर्मों का बोधमात्र प्राणी करेगा—यही बात नहीं; प्राणी अपनी चालनशक्ति से [कार्यविषय के रूप में भूतादि को पाकर] भूतादि द्रव्य को स्वेच्छा से चालित करने की चेष्टा करेगा; उसी प्रकार अपनी विधारिका शक्ति से [भूतादि रूप मनोद्रव्य को विधार्य विषय की तरह पाकर] अपने शरीरधारण-संस्कार के द्वारा भूतादि का विधारण करेगा। इस प्रकार भूतादि रूप मनोजातीय द्रव्य ज्ञेय, कार्य तथा धार्य विषय के रूप से प्राणियों के द्वारा व्यवहृत होता है। यहाँ पुनः यह स्मरणीय है कि भूतादि मन किसी प्राणी का ज्ञेय, कार्य या धार्य द्रव्य स्वरूपतः नहीं है। प्राणी का मन पूर्व संस्कार के अनुसार बाह्य विषय का पूर्वोक्त तीन प्रकार से ही व्यवहार करने की शक्ति रखता है। भूतादि मन (प्रजापति के संकल्प-बल से) ग्राह्यभावापन्न होता है। ग्राह्य-परिणाम होने के कारण वह भूतादि प्राणी के ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा प्रकाश्य के रूप में [प्रकाश्य=प्रकाश का विषय], कर्मेन्द्रिय के द्वारा कार्य के रूप में [कार्य=स्वेच्छ चालन क्रिया का विषय] तथा विधारक इन्द्रिय प्राण के द्वारा धार्य विषय [धार्य=धारण क्रिया का विषय] के रूप में व्यवहृत होता है।

प्राणी के मन में अवस्थित त्रिविध मूल स्वभाव के कारण उसका सम्पूर्ण बाह्य व्यवहार पूर्वोक्त ज्ञेय, कार्य और धार्य रूप ग्राह्य विषय के साथ (संस्कारबल के अनुसार) भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिए सहज क्रिया की तरह चलता रहता है। अनादि विद्यमान प्राणी के मन में अवस्थित प्रकाशन-क्रिया-विधारण का वासनारूप संस्कार ही इस व्यवहार का हेतु है—अध्यात्म विद्या का यही सिद्धान्त है।[1]

ग्राह्यीभूत भूतादि अभिमान का स्वभाव

प्रजापति के भूतादि अभिमान के व्यक्त होने पर वह प्राणियों के मन को प्रभावित करता है, क्योंकि दोनों मन सजातीय हैं। **ध्यान देना चाहिये कि "विषयज्ञान उत्पन्न होता ही क्यों है"—इस प्रश्न का कोई भी उत्तर अध्यात्मशास्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी शास्त्र से प्राप्तव्य नहीं है।** अध्यात्मशास्त्र ने ही इस तथ्य का आविष्कार किया है कि जिस प्रकार एक मन अन्य मन को प्रभावित कर सकता है, उसी प्रकार विषयों का मूलभूत भूतादिरूप मन सभी प्राणियों के मनों को सजातीय होने के कारण उपरंजित कर सकता है। जिन मनों को उपरंजित किया जाता है, उन मनों में भी विषयग्रहण का पूर्व संस्कार विद्यमान है। बाह्य विषय को पाँच रूपों में विभक्त कर जानने की यह शक्ति अनादि चित्त में चिरकाल से ही रही है; अतः भूतादि रूप मानस द्रव्य के अभिघात से प्राणी का चित्त उपरंजित होने पर चित्त पाँच इन्द्रियरूपी द्वारों के द्वारा उस ग्राह्यीभूत मानस द्रव्य को जानने के लिये उन्मुख होता है। चित्त के ये पाँच द्वार ही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानप्रवाह की दृष्टि से ये द्वार 'नाली' (इन्द्रियप्रणाली) शब्द से भी कहे जाते हैं।

बाह्य विषयों के मूलीभूत उपादान द्रव्य की क्रिया से ही इन्द्रियरूप द्वार या नाली चित्त में उत्पन्न होती है; यदि बाह्य विषय के साथ सम्पर्क न रहे

---

१. द्र० मेरा आगामी ग्रन्थ—संस्कार : चित्त का अज्ञात भाग।

तो ये इन्द्रियरूप द्वार चित्त में लीन हो जाएँगे, यह भी शास्त्र में कहा गया है—एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतं यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युः, यद्वा प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः (कौषीतक्युप० ३।८)। भूतमात्रा तन्मात्र है; तान्मात्रिक क्रिया से प्राणी का चित्त अभिहन्यमान होकर इन्द्रियों में परिणत होता है। पक्षान्तर में यदि इन्द्रिय रूप द्वार रुद्ध हो जाय तो भूतज्ञान नहीं होगा। विषय की मूलीभूत जो क्रिया चित्त को परिणामित करती है, वह चित्तसदृश होगी—यह अनुभव विषयमूल के साक्षात्कार के समय होता है। प्राणी के मन में जो विषयासक्ति संस्काररूप में रहती है, उसके कारण ही मन इस मूल विषयक्रिया के सम्पर्क में आता है, जिससे इन्द्रियरूप द्वार उद्भूत होता है। इसी को शान्तिपर्व में "रूपरागाद् अभूच्चक्षुः" (२१३।१६) वाक्य द्वारा कहा गया है। प्रकृत इन्द्रियाँ चित्त के बहिर्मुख भाव हैं। शरीर में इन्द्रियों का बाह्य अधिष्ठानमात्र है। यह शरीर प्राणियों का बाह्य आश्रय है, जिसको रुद्ध किये विना इन्द्रियों की शक्तियाँ प्रकाशित नहीं होतीं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध रूप ज्ञान को उद्भावित करने के संस्कार से युक्त हैं। भूतादिरूप मानस द्रव्य की क्रिया से जब वे इन्द्रियाँ उद्रिक्त होती हैं, तब वे भूतादि की क्रिया को इन पाँच ज्ञानों के रूप में ही जानती हैं। शब्द-स्पर्श आदि बोधविशेष हैं, वे चित्त के परिणामभूत हैं, उस परिणाम को उत्पन्न करने का हेतु चित्त-बाह्य है। यह हेतु सत्पदार्थ है, काल्पनिक नहीं है।

भूतादि की ग्राह्यता

हमने प्रजापति के भूतादि नामक मन की ग्राह्यता का उल्लेख किया है। प्रश्न होगा कि मनोजातीय वस्तु की ग्राह्यता [ज्ञान, क्रिया तथा धृति का विषय होना ही ग्राह्यता है] कैसे हो सकती है ? घट आदि पदार्थों की तरह एक व्यक्ति का मन अन्य मन का साक्षात् ज्ञेय विषय तो होता नहीं।

उत्तर यह है कि ज्ञेय बाह्य विषय का ज्ञाता मन भी अन्य मन के द्वारा साक्षात् रूप से ज्ञेय हो सकता है, अर्थात् एक मन दूसरे मन को ग्राह्य वस्तु की तरह साक्षात्रूप से जान सकता है, अनुमान के बल पर ही नहीं—'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्' [३।१९] इस योगसूत्र में यह तथ्य कहा गया है। वस्तुतः 'परचित्तज्ञान-रूप' विभूति में एक बलशाली मन अन्य मन को ज्ञेय विषय की तरह साक्षात् जानता है—अनुमान से नहीं, यह परीक्षणसिद्ध तथ्य है।[1]

प्रत्येक मन में 'अन्य मन के द्वारा साक्षात् विषयीकृत होना रूप योग्यता' है; यही मन की 'ग्राह्यता' है। अध्यात्मविद्या का कहना है कि प्रत्येक व्यक्त पदार्थ 'विषय' और 'सामान्य' (एकाधिक ज्ञाता के द्वारा एक साथ जो संवेद्य होता है, वह) होता है। मन भी व्यक्त पदार्थ है, अतः मन भी सामान्य (अनेक मनों के द्वारा साक्षात् रूप से विज्ञेय) होगा।

इस प्रकार यह जाना जाता है कि प्रख्या, प्रवृत्ति और धृतिरूप धर्मों से युक्त भूतादिमन किसी हेतु से एक सर्वसामान्य ग्राह्य विषय के रूप में अवस्थित

---

१. परचित्तज्ञानरूप विभूति में पर की चित्तवृत्ति का साक्षात्कार करना पड़ता है। वृत्तिरूप धर्म को जानने के बाद धर्मी चित्त किस अवस्था में है, इसका साक्षात् ज्ञान हो जाता है। प्रकृत परचित्तज्ञता रूप विभूति यही है; यद्यपि निम्नकोटि की परचित्तज्ञता भी है, जिसमें वृत्तिसंबन्धयुक्त पदार्थों का साक्षात्कार कर परचित्त की स्थिति अंशतः जानी जाती है। आधुनिक *Thought reading* इस प्रकृत विभूति का एक क्षुद्र संस्करण है। परचित्तसंबद्ध वस्तुओं का आश्रय कर पर के चित्त को कैसे जाना जाता है—इसका अन्यतम उपाय शतपथ-ब्राह्मण में कहा गया है—"मनो देवा मनुष्यस्याजानन्तीति। मनसा संकल्पयति, तत् प्राणमभिपद्यते, प्राणो वातम्, वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुषस्य मन इति" (३।४।२।६)। यहाँ मन को जानने के लिये ज्ञाता को क्रमशः वात, प्राण और संकल्प का आश्रय करने की बात कही गई है। प्रत्येक मन में जो सामान्यभाव है, उस पर आधिपत्य करने की शक्ति जब होती है, तब इन सहायकों की आवश्यकता नहीं रह जाती।

हो सकता है। मन की यह 'ग्राह्यता' नामक गुण बाह्य घट आदि पदार्थों की ग्राह्यता की तुलना में कुछ अस्फुट है; बाह्य पाषाण आदि का प्रत्यक्षज्ञान सरलता से कोई भी मन कर सकता है; पर एक मन अन्य मन के द्वारा उसी सरलता से ज्ञेय नहीं होता [इस के लिये चित्त की स्थिरता का अभ्यास करना पड़ता है]। मन में सामान्य भाव की अपेक्षा प्रत्यक् भाव (*Individual Self-sense*) अधिक मात्रा में है, यह अनुभव से सिद्ध ही है।

मन के ग्राह्यतागुण की इस अस्फुटता को संकल्प के बल पर कोई भी व्यक्ति बढ़ा सकता है, अर्थात् सकल्प के बल पर कोई अपने मन को ऐसी योग्यता से युक्त कर सकता है, जिससे वह मन सहजरूप से अन्य मन के द्वारा विषय रूप से ग्राह्य हो सके। मन के ग्राह्यतागुण को बढ़ाया जा सकता है, इस पर शंका नहीं हो सकती क्यों कि इस ग्राह्यतागुण को बढ़ा कर ही ऐन्द्रजालिक इन्द्रजाल दिखाता है। ऐन्द्रजालिक अपनी मानस चिन्ताओं को अन्य मन के ग्राह्यविषय के रूप में बना देता है—अपनी इच्छाशक्तिके बल पर। ऐन्द्रजालिक जिन पदार्थों की चिन्तामात्र करता है वे पदार्थ दर्शकों को ग्राह्य वस्तु की तरह ही दिखाई पड़ते हैं [कोई साधारणव्यक्ति अपनी मानस चिन्ताओं के विषयों को इस प्रकार अन्य व्यक्ति को दिखा नहीं सकता]। *Thought reading, Thought transference* आदि से भी सिद्ध होता है कि अन्य के चित्त और चित्तवृत्ति का साक्षात् ज्ञान किया जा सकता है।

विश्व के मूल-उपादान रूप भूतादि मन के पीछे भी प्रजापति का ईश्वरता-बल तथा सृष्टि करने का संकल्प है, अतः भूतादिरूप मनोजातीय पदार्थ अन्य प्राणियों के लिये विषय रूप से ग्राह्य होता है। प्रजापति में जो 'सर्व—भावाधिष्ठातृत्व' का संस्कार तथा प्रकृतिवशित्व रूप सिद्धि है, उसके कारण ही भूतादिरूप उनका मनोभाव ग्राह्यरूप से उनके चित्त में उपस्थित होता है। यही 'ग्राह्य' तन्मात्र रूप से अन्य प्राणियों का विषय होता है। ध्यान देना चाहिये कि भूतादिरूप मनोद्रव्य में ग्राह्यतामात्र [प्राणियों के द्वारा ज्ञेयरूप से, चाल्य रूप से तथा धार्य रूप से सहजतः

व्यवहृत होने की योग्यतामात्र] है। इस योग्यता के कारण ही भूतादि प्राणियों के चित्तों का विषय होता हैं; विषय=ज्ञानेन्द्रिय का ज्ञेय होना, कर्मेन्द्रिय का चाल्य होना तथा धारक इन्द्रियरूप प्राण का धार्य (=विधारणीय) होना (शरीररूप)। ज्ञेय, चाल्य और धार्यरूप से व्यवहार के अतिरिक्त और कोई बाह्य व्यवहार नहीं है—यह ज्ञातव्य है।

अब विचारना चाहिये कि प्रकाश-क्रिया-स्थितिशील भूतादिमन में जो सामान्य ग्राह्यतामात्र थी, वह ग्राह्य होने पर प्राणी की योग्यता के अनुसार ज्ञेय, चाल्य और धार्यरूप में विषय हो जाता है। ज्ञाता प्राणी पर ही भूतादि की ज्ञेयता, चाल्यता और धार्यता रूप धर्मों का अस्तित्व विशेषतः निर्भर करता है।

प्रत्येक प्राणी बाह्य विषय का जो व्यवहार ज्ञेय, चाल्य और धार्यरूप से करता है, वह अपनी चित्त-इन्द्रियशक्ति के अनुसार ही होता है। यही कारण है कि ग्राह्य विषय का जो बोध प्रत्येक प्राणी में है, वह बोध स्वकीय है, अन्य प्राणो में वही बोध उसी रूप में उत्पन्न होता है, यह कहना संगत नहीं हो सकता। पर चूँकि बोध के अनुसार ही प्राणी व्यवहार करता है, अतः व्यवहार का सादृश्य देखकर एक प्राणी अनुमान ही करता है कि अन्य प्राणो में उसके अनुरूप बोध उत्पन्न हुआ होगा। अन्य प्राणी में उत्पन्न बोध को साक्षात् जानना भी संभव है; पर यह तभी संभव है, जब किसी के मन में उपयोगी विकाश हो, जैसा कि ऊपर कहा गया है।

मनकारणतावाद एवं चित्तपरिणामरूप ज्ञान

जब अध्यात्मशास्त्र कहता है कि 'भूतादि' की क्रिया से शब्दादि का ज्ञान चित्त में उदित होता है और यह 'भूतादि' सृष्टिकारी पुरुषविशेष के अहंकार (अन्तःकरण) के एक परिणाम के रूप में है, तब यह प्रश्न उठता है कि अहंकार तो प्रत्येक प्राणी में है, अतः किस भूतादि की क्रिया से शब्द-स्पर्श आदि ज्ञान उत्पन्न होते हैं?

अध्यात्मशास्त्र का उत्तर है कि सृष्टिकारी ऐश्वर्यशाली प्रजापति का ग्राह्यीभूत अहंकार भूतादि की क्रिया मूलतः प्रत्येक प्राणी के स्वगत भूतादि-अहंकार को उत्तेजित करता है और प्राणीगत भूतादि इस उत्तेजना (*stimulus*) से भावित होकर 'परिच्छिन्न प्रकाशभावरूप वृत्ति' को उत्पन्न करता है। वैषयिक ज्ञान को यही मूलीभूत प्रक्रिया है। **इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द-स्पर्शादि ज्ञान का उत्पादक हेतु भूतादि-रूप मानस द्रव्य है [जो प्रजापति का ग्राह्यीभूत अहंकार है] तथा शब्द-स्पर्शादिज्ञान प्राणोगत भूतादिरूप मन का विकार है।** यह विकार मूलतः पूर्वोक्त मानस द्रव्य की उत्तेजना से प्रकटित होता है। **इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है विषयज्ञान का बाह्य निमित्त और उपादान दोनों मनोजातीय पदार्थ हैं;** उत्पादक हेतु रूप बाह्य अंश स्वप्रतिष्ठित है और ज्ञानरूप अंश चित्तप्रतिष्ठित है। शब्द-रूपादि-ज्ञान चित्तपरिणाम हैं[1] यह जो अध्यात्मशास्त्र में कहा गया है, जिसको एक काल्पनिक धारणा के रूप में आजकल माना जाता है, उसका तात्पर्य उपर्युक्त तथ्य से स्पष्ट हो जाता है।

ज्ञान चित्तपरिणाम है—यह बोध तन्मात्रसाक्षात्कार के काल में स्पष्टतया अनुभूत होता है। प्रयोग (*experiment*) यह है—इन्द्रिय के साथ चित्त को यदि सुस्थिर कर दिया जाय तो बाह्य शब्दादि-ज्ञान लीन हो जाता है और इस स्थैर्य को श्लथ [ढीला] कर देने मात्र से अनायास (इच्छा हो

---

१. यह विशेषतः ज्ञातव्य है कि जो पदार्थ चित्त-इन्द्रिय में जैसी क्रिया उत्पन्न कर जिस बोध को उद्घाटित करता है, यदि अन्य वस्तु से वही क्रिया उत्पन्न की जाय तो वही बोध प्रकटित होगा। गुड की मिष्टता का बोध गुड के स्थान पर 'जिह्वा में कम्पन-विशेष को उत्पन्न' कर (विद्युत् आदि के द्वारा) भी उत्पादित किया जा सकता है। जिस कम्पन से जो ज्ञान होता है वह कम्पन्न किसी से भी उत्पन्न क्यों न हो, समान बोध उत्पन्न करेगा। बोध चित्त का ही परिणाम है—यह इस प्रयोग से सिद्ध होता है।

या न हो) बाह्य ज्ञान उदित होने लगता है—यह एक अनुभव है, जो अभ्यास के बल पर कोई भी कर सकता है। बाह्य क्रिया से शब्द-स्पर्श-रूपादि का बोध चित्त में तभी उदित होता है, जब चित्त में चाञ्चल्य हो यह देखने के बाद यही अनुभव होता है कि शब्द-स्पर्शादि बोध चित्त-परिणाममात्र हैं और इस परिणाम को उत्पन्न करने वाला हेतु चित्तबाह्य है। 'बाह्य हेतु से चित्त का परिणत होना रूप घटना को यदि रुद्ध कर दिया जाय तो बाह्य ज्ञान भी रुद्ध हो जाता है। अतः शब्द-स्पर्शादिज्ञानरूप बाह्य ज्ञान चित्त का परिणामभूत ही है—यह सिद्ध होता है। चित्त में ही चित्तगत चाञ्चल्य को रुद्ध करने की क्षमता है—यह सामर्थ्य तमोगुण से आती है।

शब्दादि-बोध वस्तुतः चित्त का परिणाम है, इसका सबसे बड़ा हेतु यह है कि बाह्य सम्पर्क से जो उत्तेजना इन्द्रिय-प्रणाली से वाहित होकर मस्तिष्क तक पहुँचती है, वह उत्तेजना ऐसी नहीं है कि उसका विश्लेषण कर कोई यह कह सके कि वह शब्दादि से युक्त है या वह शब्दादि-स्वरूप है। इन्द्रियगृहीत इन उत्तेजनाओं की प्रकृति (जो मस्तिष्क में जाती है) एक ही है—यह शरीरविज्ञानी को मानना पड़ता है। उत्तेजना कैसे शब्द रूपादि बोध को उत्पन्न करती है—यह भी उनके लिए एक समस्या है। अध्यात्म-शास्त्रानुसार उत्तेजना चित्त को परिणामित करती है, जिससे चित्त में अलक्ष्यरूप में स्थित प्रकाशभाव उद्‌गत हो जाता है। यह प्रकाश बाह्य इन्द्रिय के सम्पर्क की दृष्टि से पाँच प्रकार का है, जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध रूप से ज्ञात होते हैं। चित्त का यह परिणाम (अर्थात् वृत्ति) अपने हेतु के अनुरूप होता है। इसी से शास्त्र में कहा गया है कि 'चित्तवृत्ति विषयाकारा होती है।'

शब्द-स्पर्श आदि बोधबाह्य क्रियाओं से अभिहन्यमान होकर उदित होने से पहले चित्त में शक्तिरूप से रहते हैं और पूर्वोक्त उत्तेजना से उद्‌गत होते हैं। प्राचीन आचार्यों ने बड़े ही रोचक ढंग से इस प्रणाली को समझाया है। ज्ञान का शक्ति रूप में रहने का तात्पर्य है—संस्कार रूप में रहना। अध्यात्म-

शास्त्र के अनुसार चित्त अनादि है, उसका कोई सृष्टिकर्ता नहीं है। अनादि चित्त अनादि संस्कार से युक्त होकर विभिन्न प्राणिनिवासों (लोकों) में व्यक्त होकर ग्राह्य विषयों को पाकर कर्म करता रहता है। मूल वैषयिक क्रिया के आघात से मन में स्थित ज्ञानसंस्कार व्यक्त हो जाता है।

इस विषय में यह भ्रम प्रचलित है कि चित्त इन्द्रियप्रणाली से बाहर में आकर विषयाकार से परिणत होता है। ऐसा होना सम्भव नहीं है; अध्यात्मभूत चित्त इस प्रकार बाहर आ नहीं सकता। विषय-क्रिया सजातीय सम्बन्ध से प्राणी के चित्त में अपने अनुरूप परिणाम उत्पन्न करता है। इस राजस क्रिया से जो प्रकाशभाव प्रकटित हो जाता है, वही ज्ञान या वृत्ति है। इस चित्तगत ज्ञान को प्राणी (अपने पूर्व संस्कार के कारण) 'बाह्य में अवस्थित' के रूप में समझते हैं। यह बाह्य बोध और देशबोध अविनाभावी है। अदेशव्यापी मूल मानस क्रिया से देशव्यापिता का बोध कैसे उद्‌भूत होता है, यह आगे दिखाया जायेगा।

यह पहले कहा गया है कि चित्तस्थैर्यपूर्वक तन्मात्र का साक्षात्कार जब किया जाता है, तब तन्मात्र का ज्ञान चित्त का परिणाममात्र है, यह अनुभूत होता है। यदि बाह्य विषय का मूल उपादान मनोजातीय न हो तो यह कदापि समझ में नहीं आता कि विषयक्रिया मन में ज्ञान की उत्पत्ति कैसे करती है। चित्त की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई रूप दैशिक परिमाण नहीं है; बाह्य विषयमात्र का दैशिक परिमाण है; अतः देशव्यापिनी क्रिया अदेशव्यापी चित्त को प्रभावित कैसे कर सकती है? इससे यह सिद्ध होता है कि जिस क्रिया से विषयज्ञान उत्पन्न होता है, वह मूलतः मानस क्रिया ही है।[1]

---

१. अध्यात्मशास्त्र के अनुसार विषय और विषयग्राहक इन्द्रियाँ साक्षात् रूप से एक ही उपादान से आविर्भूत हुई हैं। यह उपादान मानस पदार्थ है। तामसभाव की अधिकता विषय-अंश में है और सात्त्विकभाव की अधिकता इन्द्रियांश में। विषयमूल मानस पदार्थ का आवरित स्वभाव तथा अलक्ष्यवत् स्थिति को देखकर ही इस मानस पदार्थ को तामस कहा गया है।

किंच रूपादिज्ञान और देशज्ञान अविनाभावी हैं, अतः जो रूपादि की मूलीभूत उत्पादिका क्रिया होगी, वह देशव्यापिनी नहीं होगी क्योंकि देशबोध की उत्पत्ति से पहले वह क्रिया अपनी सत्ता में रहती है। मानस शक्ति का उत्कर्ष कर इच्छा के बल पर बाह्य द्रव्य का चालन एवं किसी परिणाम में आनयन किया जा सकता है—यह एक तथ्य है। बाह्य द्रव्य की सहायता के विना बाह्य द्रव्य को दूर से चालित या परिणामित करना सिद्ध करता है कि बाह्य विषय मूलतः मानस है, क्योंकि इच्छा रूप मानस पदार्थ किसी मानस पदार्थ पर ही कार्य कर सकता है। इन चालनादि क्रियाओं को मनोविज्ञान में शिक्षित पाठकों को सत्य घटना के रूप में मानना पड़ता है। द्र० *Telekinesis, Ecloplasy* आदि।

योगशास्त्र-प्रोक्त जो विभूतियाँ हैं; वे भी प्रमाणित करती हैं कि बाह्य पदार्थ मूलतः मनोमय है। इच्छाबल से रूप की ग्राह्यताशक्ति का स्तम्भन (योगसूत्र ३।२१), बल में संयम करने से शारीरिक बल की वृद्धि (३।२४), समापत्ति के बल पर आकाशगमन (३।४२), काय-आकाश तथा श्रोत्र आकाश के संयम से आकाशगमन तथा दिव्य श्रोत्र होना (३।४१-४२), भूतजय (३।४४) आदि विभूतियों के स्वरूपविचार से यह स्पष्ट प्रतिभात होता है कि जड़ बाह्य पदार्थ मूलतः मन-सजातीय है। यह मन प्रजापति का मन है; इस दृष्टि से ही "त्रैलोक्यं सेश्वरं सर्वमहंकारे प्रतिष्ठितम्" (शान्तिपर्व २१२।१९) कहा गया है। पूर्वोक्त मन प्रजापति का तामस अहंकार है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य विषयों का मूल बाह्यरूप से कदापि ज्ञात या प्राप्त नहीं हो सकता। यह स्पष्टतया जान लेना चाहिये कि शब्द-स्पर्श-रूपादि बाह्य हेतु से चित्तपरिणाम रूप ज्ञान ही है और प्राणी उस स्वचित्तगत ज्ञान को बाह्य में आरोप करता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य द्रव्यों को कितना ही विश्लिष्ट क्यों न किया जाय, उससे शब्द-स्पर्श-रूपादि का चरम कारण कदापि न ज्ञात होगा—केवल एक परिमाण से

क्षुद्रतर परिमाण का ज्ञान ही होगा। यह क्षुद्र-परिमाणवाला बाह्य द्रव्य शब्द-स्पर्श-रूपादि युक्त ही होगा। यही कारण है कि हमारी दृष्टि में *Electron*, *Proton*, *Neutron*, *Positron* आदि *Elementary Particle* भौतिक द्रव्य हैं।[1] ये सब भूततत्त्व के अन्तर्गत भी नहीं आते।

मैं यह भी कह देना चाहूँगा कि इस 'परिमाण-अल्पता-पद्धति' से बाह्य द्रव्य को जानते रहने से उस अल्पता की समाप्ति कभी भी नहीं होगी। अचिन्त्यशक्तिशाली त्रिगुणा प्रकृति की यही महिमा है। *Electron* के बाद *Sub electron* अवश्य आयेगा।

तन्मात्रक्रम

तन्मात्र ग्राह्यभावापन्न मन है—यह कहा गया है। मन वृत्ति प्रवाहयुक्त है, एक वृत्ति का उदय एवं नाश, पुनः एक वृत्ति का उदय ·····यह क्रम चलता रहता है। तन्मात्र में भी यह स्वभाव अनुभूत होता है। प्रायेण देशव्याप्ति शून्य एक-एक तन्मात्र कालिक धारा से ही ज्ञानगोचर होता है, जिससे प्रमाणित होता है कि तन्मात्रों का सभङ्ग क्रम है। सभङ्ग होने के कारण तन्मात्र में भी अत्यन्त अस्फुट देशव्याप्ति है। देशव्याप्ति की परमतम सूक्ष्मता तन्मात्र-स्तर में है।

तन्मात्र सभङ्ग-क्रम में ही विद्यमान हैं—यह एक तथ्य है। तन्मात्रज्ञान कालिक प्रवाह रूप है। सभङ्ग क्रम से ज्ञानगोचर होने के कारण तन्मात्र

---

१. *Electron* आदि के जो गुण, क्रिया और परिमाण का परिचय विज्ञानी देते हैं, उससे यह ज्ञात होता है कि ये पदार्थ भौतिक (पञ्चभूत-संजात) ही हैं, यद्यपि भौतिक के अत्यन्त सूक्ष्म (परिमाण की दृष्टि से) स्तर में ये सब आते हैं। जब तक *Electric charge* का स्वरूप ज्ञात न हो जाय तब तक *Electron* आदि परक विचार बहुत कुछ अप्रतिष्ठ ही रहेगा।

का स्वरूप तरङ्गरूप तथा कणरूप—इन दो रूपों से विज्ञात हो सकता है (दृष्टिकोण की भिन्नता के अनुसार)।[1]

तन्मात्रज्ञान (या कोई भी विषयज्ञान) बाह्य क्रिया और अध्यात्मभूत क्रिया के संयोगजन्य परिणाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रत्येक परिणाम मूलतः क्षणमात्रव्यापी है। चित्त का स्थूल संस्कार जनित संकुचित ज्ञानशक्ति सूक्ष्म परिणाम का ग्रहण नहीं कर सकती, वह परिणामों का एक-एक स्तोक (*quantum*) ग्रहण करती है। इस स्तोक के परिमाण भेद के कारण ज्ञान की प्रकृति में भिन्नता होती है, यह कहा गया है। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि स्थूल रूपादि विषयज्ञान क्षणव्यापी सूक्ष्म क्रियाओं का समाहारज्ञान है।

शास्त्र का कहना है कि बाह्य द्रव्यों का जो परिणाम होता है, वह क्रमानुसारी ही होता है। **परिणाम मूलतः क्षणावच्छिन्न सूक्ष्म परिवर्तन है।** क्षणरूप सूक्ष्मतम काल में ही तन्मात्ररूप परमाणु की अवस्था का अन्यथाभाव होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तान्मात्रिक स्पन्दन धारा ही बाह्य परिणामों का धारावाहिक सूक्ष्म क्रम है।

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि अवस्थाभेद ही परिणाम है। बाह्य द्रव्य के प्रसंग में अवस्थाभेद का अर्थ है 'दैशिक अवस्थानभेद'; अतः दैशिक अवस्थान-भेद यानी स्थानपरिवर्तन ही परिणाम है। शब्द आदि गुण अवयव-विशेषों के कम्पन ही हैं। कम्पन का अर्थ है—देशान्तर गतिविशेष। चूँकि कम्पन के भेद से शब्दादि के भेद होते हैं, इसलिये शब्द, रूप आदि

---

१. इस दृष्टिभिन्नता का आभास होने लगा है; Later research has shown that light phenomena must be interpreted in terms of photons and waves, as the two descriptions are merely two different ways of viewing one and the same reality

(A Dictionary of Science, p. 71)

धर्मों का अन्यथात्व देशान्तरिक अवस्थाभेद ही है। यह सर्वथा निश्चित है कि बाह्य द्रव्यों का क्रियारूप परिणाम देशान्तरिक अवस्थान-भेद मात्र है। काठिन्य आदि जाड्य धर्मरूप परिणाम भी अवयवों के देशान्तरिक अवस्थानभेद हैं। 'कठिन लोहा ताप के योग से कोमल होता है'—इसका तात्पर्य है—'ताप नामक क्रिया के द्वारा लोहा के अवयवों का अवस्थान—भेद होना'। **किसी वस्तु के नीलगुण के स्थान पर यदि लालगुण बाद में हो जाय तो वहाँ भी मूलतः 'स्थानपरिवर्तन' होता है** (जडविज्ञान संमत पारमाणविक दृष्टि में)। शब्द-रूप आदि की मूलीभूत क्रिया तथा रासायनिक क्रिया अवयवभूत द्रव्यों का 'स्थानपरिवर्तन' ही है—यह वैज्ञानिक भी मानते हैं।

अध्यात्मशास्त्र का कहना है कि चित्त-बाह्य में अविशेष तन्मात्र-धारा स्वगत परिणाम के साथ विद्यमान है। ज्ञाता जीव अपने चित्त की शक्ति के अनुसार अविशेष तन्मात्र-परिणाम को सविशेष परिणाम-रूप से जानता है। अविशेष (विचित्रता शून्य वस्तु) को सविशेष रूप से जानने का हेतु है—ज्ञानशक्ति की जड़ता। जिस प्रकार क्रमशः उत्पन्न सिनेमाचित्रों का पृथक् पृथक् ज्ञान न होकर चक्षु की जड़ता के कारण 'एक अभग्न चित्र' के रूप में ज्ञान होता है इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। (द्र० *Cine Projector* तथा *Television* का व्यापार)। 'वस्तुतः पृथक् को अपृथक् रूप से देखना' एक अक्षमता पर निर्भर है, जिसको *Persistence of vision* कहा जाता है। **यदि यह अक्षमता (जड़ताविशेष) न रहे तो सिनेमाचित्र का ज्ञान नहीं होगा और यह 'चित्रज्ञान न होना' ही 'चित्रज्ञान होने' की अपेक्षा, अधिकतर सत्य है।** ठीक इसी प्रकार भौतिक द्रव्य के स्थान पर पञ्चभूत का ज्ञान होना अधिकतर सत्य है, क्योंकि पञ्चभूत का ज्ञान अधिकतर जड़ताशून्य ज्ञानशक्ति का कार्य है। उसी प्रकार पञ्चभूत के स्थान पर पञ्चतन्मात्र का ज्ञान होना बाह्यदृष्टि में अनापेक्षिक सत्य है। तन्मात्रज्ञान बाह्यज्ञान का अनापेक्षिक चरम ज्ञान है,

क्योंकि ज्ञानशक्ति की जिस स्थिरता से यह ज्ञान होता है वह यदि और अधिक स्थिर हो जाय तो बाह्य ज्ञान का सम्यक रोध हो जाता है। सर्व प्रकार विचित्रता से विरहित शब्द, स्पर्श आदि पाँच धर्मों का ज्ञान ही बाह्य विषय का चरमतम ज्ञान है।

तन्मात्रों का क्षणधारा-क्रम से ज्ञान

यह जानना चाहिये कि तन्मात्र 'एक-अवयव' है (व्यासभाष्य ३।४४)। परम सूक्ष्म होने के कारण तन्मात्र में अवयव-भेद पृथक् नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि वास्तव परमाणु (न्यायवैशेषिक शास्त्र के परमाणु की तरह काल्पनिक या अनुमानमात्रगम्य अणु नहीं) रूप तन्मात्र का ज्ञान कालिक धाराक्रम से (एक के बाद अन्य तन्मात्र का उपस्थित होना) होता है। तन्मात्र का ज्ञान क्षणधाराक्रम से (अर्थात् क्षणव्यापी जो ज्ञान उसके धाराक्रम के अनुसार) होता है, देशव्यापी-रूपेण नहीं।

'देशव्याप्तिहीन तन्मात्र का कालिक धारा क्रम से ज्ञात होना' रूप तथ्य विश्वमूल के विश्लेषण से संबन्धित एक आविष्कार है। अवयवहीन एक तन्मात्र का क्षणव्यापी ज्ञान समाप्त होता है और द्वितीय तत्सदृश तन्मात्र का ज्ञान उदित होता है—इस प्रकार का क्रम (क्षणधाराक्रम से ज्ञान) चलता रहता है। यहाँ (१) 'तन्मात्र रूप अणु,' (२) 'इसकी अविरल धारा तथा (३) 'धारा का भी विच्छेदयुक्त होना' रूप तीन भाव हैं। जडद्रव्य को अत्यन्त सूक्ष्म रूपेण विश्लिष्ट करने पर (भौतिकविज्ञान की पद्धति के अनुसार) जो इलेक्ट्रन या ईदृश अन्य पदार्थ प्राप्त हो रहे है, उनमें भी कणरूप (*corpuscular*) या तरङ्ग-रूप (*Wave-like*) जो दो स्थितियाँ मिल रही हैं, और जिस तथ्य को एक समस्या के रूप में आज विज्ञानजगत् में समझा जाता है, उसका भी मूल कारण तान्मात्रिक जगत् में है।[1]

१. बाह्य वस्तु को जैसा जैसा सूक्ष्म किया जायेगा, उसमें 'भङ्गयुक्त क्रम'

तन्मात्रक्षेत्र में वस्तुतः 'अणु' और उसकी 'विच्छेदयुक्त धारा' ही है, पर उस विच्छेद का ज्ञान करना कठिन होता है, इसलिये 'प्रवाह' का ज्ञान ही प्रथमतः चित्त में उदित होता है। इस विच्छेद का काल (तमोगुण के कारण यह विच्छेद होगा ही, विच्छेदहीन धारा अध्यात्मशास्त्र में स्वीकार्य नहीं है) अनिर्धार्य है (क्योंकि तन्मात्र में दैशिक व्याप्ति नहीं के बराबर है), पर योगशास्त्रीय कौशल से तन्मात्रधारा के अन्तर्गत विच्छेद का ज्ञान होता है।

विच्छेद से युक्त धारावाहिकता (अर्थात् सभङ्ग तरंग) न केवल बाह्य जड़ पदार्थ के अन्तिम रूप में है, बल्कि मनोराज्य में भी है। क्षणमात्र स्वभाव व्यापिनी एक वृत्ति के लय के बाद ही अन्य वृत्ति उठती है और इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। दोनों वृत्तियों के मध्य में 'लय का जो काल' है वह अलक्षित रहता है; यद्यपि प्रक्रिया-विशेष से उसको लक्ष्य किया जा सकता है और वृत्तिरोध के लिये इस 'मध्यकाल' का लक्ष्य करना ही पड़ता है।

तन्मात्र के मूल में भूतादिरूप मन रहने के कारण ही बाह्य जगत् और आन्तर जगत का असाधारण सादृश्य लक्षित होता है। मनोजगत् में जिस प्रकार सभी वृत्तियाँ 'अहम्' रूप केन्द्र में विधृत रहती हैं तथा परस्पर सम्बद्ध हैं, बाह्य जगत् में भी प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे को आकृष्ट करता है। बाह्य जगत् में एक प्रसिद्ध तथ्य है—आवर्तन। यह आकर्षण और विकर्षण के परस्पर विरोध का फल है। परमाणु के अन्तर्गत केन्द्र वस्तु और उसकी चारों ओर विघूर्णित इलेक्ट्रन इस आवर्तन का प्रसिद्ध उदाहरण है।

रूप स्वभाव बढ़ता जायेगा। हमारी दृष्टि में तरङ्गमात्र सभङ्ग है, अतः दृष्टि भेद से एक ही सूक्ष्म पदार्थ में कणरूप तथा तरङ्गरूप दो भावों की प्रतीति हो सकती है। इलेक्ट्रन का कणरूप और तरंगरूप द्वि-स्वभाव वस्तुतः कोई समस्या नहीं है यह 'अणुप्रचय', धर्म-धर्मिभाव आदि को देखने से जाना जाता है।

मूल सूक्ष्मतर वस्तु की ओर जैसा जैसा कोई अग्रसर होता जायेगा, वह इस आवर्तन प्रक्रिया को स्फुटतर रूप से देख पायेगा।

यह आवर्तन मनोजगत् में भी है। चित्तवृत्ति से संस्कार और संस्कार से वृत्तिरूप आवर्तन 'अहम्' रूप केन्द्र को मानकर सदैव चल रहा है। जिस प्रकार बाह्य जगत् में क्रियाभाव और जाड्यभाव हैं, मनोजगत् में भी वे भाव देखे जा सकते हैं। प्रकाश, क्रिया और स्थिति रूप मूल त्रिगुण बाह्य जगत् में प्रकाश्य, कार्य एवं धार्य रूप में व्यवहृत होते हैं; और मनोजगत् में ये गुण प्रकाशन, चालन एवं विधारण रूप में विद्यमान हैं।

भूतादि-अभिमान के आश्रयभूत प्रजापति हिरण्यगर्भ का परिचय

हमारे व्यवहार्य ब्रह्माण्ड को अभिव्यक्त करने वाले प्रजापति हिरण्यगर्भ सास्मितसमाधिसिद्ध एक ऐश्वर्यशाली महापुरुष हैं। उनके महान् मन में सर्वज्ञातृत्व, सर्वभावाधिष्ठातृत्व एवं सृष्टिसंकल्प (यथाक्रम सात्त्विक, तामस एवं राजस भाव) का संस्कार विद्यमान है। इस संस्कार के कारण वे अपने सृष्टिकारक अहंकार के बल से ब्रह्माण्ड के व्यञ्जक के रूप में प्रादुर्भूत होते हैं। सृष्टि संकल्प के कारण ही उनके मन का तामस अंश (भूतादिनामक) ग्राह्य भाव में परिणत होता है। प्रजापति के मन में पूर्व सृष्टि के अनुसार तन्मात्र, भूत एवं भौतिक ज्ञान का संस्कार है, जो इस सर्ग में भी यथायोग्य जीव के मन में तन्मात्र, भूत एवं भौतिक ज्ञान को उत्पन्न करने का हेतु होता है।

प्रजापति का सर्वज्ञ मन जब व्यक्त होगा, तब एक 'सर्व' भी व्यक्त होगा। यह सर्व ही ब्रह्माण्ड का मूल उपादान है, जो प्रजापति के भूतादि मन का ही बाह्य रूप है।

सृष्टिकारी प्रजापति के स्वरूप के विषय में विशेष ज्ञान साधारण अनुमान से होना संभव नहीं है। अध्यात्मशास्त्र के अनुसार इस विषय के ये सारभूत बातें हैं —

वर्तमान सृष्टि के अधीश प्रजापति इस सर्ग में ऐश्वर्य-संस्कार से अभिव्यक्त होने से पहले भी विद्यमान थे। पूर्वसर्ग में वे उच्चकोटि के योगसाधक थे और पूर्वसृष्टि के नाश होने के बाद अपने ऐश्वर्यबल से इस ब्रह्माण्ड के अभिव्यक्तिकारी के रूप में व्यक्त हुये।

प्रजापति के चित्त में पूर्वकल्प के शब्दादिज्ञान का संस्कार रहने के कारण इस सृष्टि में भी उनके मन में शब्दादिज्ञान को ही उद्भावित करने का स्वभाव रहता है। **यही कारण है कि असिद्ध जीव पूर्वसृष्टि में जिस प्रकार शब्दादि का बोध किया करता था, उसी प्रकार का बोध इस ब्रह्माण्ड में भी करता रहेगा क्योंकि प्राणी में भी ईदृश बोध करने की ही योग्यता एवं संस्कार हैं।** ब्रह्माण्ड सृष्टि और बाह्य बोध की अनुवृत्ति को देखकर ही "धाता यथापूर्वम् अकल्पयत्" (ऋग्वेद १०।१९०।३) कहा गया है।

प्रजापति का भूतादि मन सृष्टिसंकल्प एवं सर्वभावाधिष्ठातृत्व आदि विभूतियों की सहायता से ग्राह्य रूप में परिणत होता है। भूतादि मन का ग्राह्य भाव उद्भूत होने के कारण ही वह मन प्राणियों के विषय के रूप में प्राप्तव्य हो जाता है।

यह 'विषय के रूप में प्राप्त होना' प्रत्यक्षतः 'तन्मात्ररूप में ज्ञातव्य होना' है। प्राणी अपनी 'योग्यता' के अनुसार विशेषताहीन ग्राह्य भूतादि मन को शब्दादियुक्त तन्मात्र के रूप में जानता रहता है। प्राणी का संस्कार एवं चित्त-इन्द्रिय की प्रकृति ही यह 'योग्यता' है।

तन्मात्रज्ञान और भक्ति

तन्मात्र-साक्षात्कार के बाद उसके मनोजातीय उपादान का जब बोध होता है तथा यह भी ज्ञात होता है कि यह उपादान सभी असिद्ध प्राणियों के चित्तों को अवश कर उस पर अपना प्रभाव डालता है तब उस मन के स्वामी प्रजापति हिरण्यगर्भ की महिमा विज्ञात होती है; साथ ही जीव अपनी

क्षुद्रता का बोध करता है। **इसका फल यह होता है कि साधक के हृदय में ईश्वरप्रणिधानरूप भक्ति का आविर्भाव होता है।** भूतादि मन के ज्ञान के विना जो 'भक्ति' होती है, वह अंशतः कृत्रिम भक्ति है, एक मानसिक आवेग है (इसकी भी प्राथमिक आवश्यकता है, अतः यह सर्वथा हेय नहीं है)।

भूतादि मन जीव के मन को प्रभावित कर पूर्व संस्कार के अनुसार जगत् का बोध उत्पन्न न करे (जगत् रूप इन्द्रजाल न दिखा सके—यह कहना ही संगत होगा), इसके उपाय के लिये तन्मात्र के साक्षात्कारी साधक उस ऐशी शक्ति में समाहित होने की चेष्टा करते हैं, जिस पर भूतादि मन आश्रित है। **निरन्तर इस ईश्वरप्रणिधान से साधक के चित्त में सुप्तवत् स्थित ईश्वरता की अभिव्यक्ति होने लगती है। इस ईश्वरता की अभिव्यक्ति जब अधिक मात्रा में होती है तब साधक 'भूतादिमन के द्वारा अपने चित्त का चञ्चल होना' रूप जो स्वभाव है, उसको रुद्ध करने में समर्थ हो जाता है।**[1] बाह्य शब्दादिज्ञान का प्रकृत रोध ईदृश चित्तरोध द्वारा ही सम्भव है। यह संप्रज्ञातयोग का प्राथमिक स्तर है।

१, इस ईश्वरभावानुचिन्तन (द्र० तमात्मसंस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्—कठोप० २।२।१२) को ही पौराणिक भाषामें "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" (गीता ७।१४) रूप से कहा गया है। प्रजापति के ऐश्वर्य द्वारा अभिव्यक्त ब्रह्माण्ड रूप विषय को पाकर प्राणी स्वसंस्कारानुसार कर्म करते हैं, उनके भूतादि रूप तामस मन की क्रिया से प्राणी का नूतन सुप्त हृदय (सृष्टि के बाद) जाग उठता है और प्राणी अपने स्थूल संस्कार युक्त चित्त-इन्द्रिय से इस स्थूल ब्रह्माण्ड का बोध करता रहता है जो वस्तुतः भ्रान्त ज्ञान है। इसी तथ्य को गीता १८।६१ में "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया"॥ रूप वाक्य से दिखाया गया है।

योग की सहायता से ग्राह्य जगत् के ज्ञान के रोध होने के बाद इन्द्रिय तत्त्व (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा इन सबके चालक मन) के साक्षात्कार करने में सामर्थ्य होती है। योग के पारिभाषिक शब्द में यह 'ग्रहणसमापत्ति' है। इसके बाद अन्तःकरण के साक्षात्कार कर अस्मि-भाव रूप बुद्धि का रोध होकर जीव कैवल्य का अधिगम करता है।

जीव का स्वरूप

हमने जीव या प्राणी शब्द का बहुशः व्यवहार पूर्वप्रकरणों में किया है। ज्ञान, प्रवृत्ति और संस्कार धर्म से युक्त चित्त ही प्राणी का प्रकृत स्वरूप है। यह चित्त चेतन है; ज्ञेय विषय को तथा चित्तगत भावों को भी चित्त जानता है। [जड़ चित्त की यह ज्ञानशक्ति चित्तद्रष्टा आत्मा के अधिष्ठान के कारण अभिव्यक्त होता है—इस दृष्टि की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है]। विषय (वैषयिक क्रिया) के संपर्क में चित्त में विषय को ग्रहण करने की योग्यता उत्पन्न होती है। यही द्वाररूप इन्द्रिय है। प्राणी वस्तुतः ज्ञानेन्द्रियशक्ति, कर्मेन्द्रियशक्ति तथा प्राणशक्ति से युक्त चित्त ही है। शरीर-ग्रहण-संस्कार चित्त में रहने के कारण बाह्य विषयों की अभिव्यक्ति (सृष्टिकाल में) होने पर प्राणी व्यक्त बाह्य विषय को (मुख्यतः प्राणशक्ति की सहायता से) शरीररूप से व्यूहित (सज्जीकृत) कर लेता है। यह शरीर वस्तुतः प्राणी का अंगभूत नहीं है। इस शरीरसंपर्क के कारण चित्त की शक्ति (अतएव इन्द्रियशक्ति) सीमित हो जाती है। प्राणायाम आदि के बल से शरीर निरपेक्षता जैसी जैसी बढ़ती जायगी, चित्त-इन्द्रिय की सूक्ष्म शक्ति प्रकटित होती जायगी। राजस विक्षेप एवं तामस आवरण का दूरी-करण करने पर ही सात्त्विक प्रकाश स्वतः प्रकटित होता है।

विज्ञानवाद, मायावाद और शून्यवाद आदि की यथार्थता

सभी प्राणियों का ग्राह्यभूत भूतादि अहंकार, प्रत्येक प्राणिस्थित भूतादि अहंकार और इन दोनों मानस पदार्थों से उत्पन्न होनेवाला विषयज्ञान— इन

तीनों को समझने से बाद दार्शनिक क्षेत्रों में सुप्रचलित 'विज्ञानवाद', 'शून्यवाद', 'मायावाद' आदि वादों की पृष्ठभूमि का परिज्ञान स्वतः हो जाता है; तथा यह भी जाना जाता है कि इन वादों में यथार्थता के साथ अयथार्थता का अंश कितना है।

'विज्ञान' का अर्थ है चित्त या चित्तवृत्ति। **जब शब्दादिज्ञान का निमित्त तथा उपादान दोनों ही मनोजातीय हैं, ऐसा ज्ञात होता है तब 'सभी ग्राह्य वस्तु विज्ञान के परिणाम हैं' यह दृष्टि उत्पन्न होती है;** इस दृष्टि का यह अर्थ यदि माना जाय कि चित्तगत हेतुमात्र से शब्द, रूप आदि ज्ञान होते हैं, तो ऐसा सोचना असम्यक् दर्शन होगा, क्योंकि शब्द,रूप आदि ज्ञानों का उपादान यद्यपि प्राणी के चित्तगत भूतादि अहंकार है, पर उस ज्ञान का हेतु अन्य पुरुष में अवस्थित भूतादि मन है। शब्दादि ज्ञानस्वरूप विषय का ज्ञानांश ही चित्तगत विकार है, ज्ञानोत्पादक हेतु ज्ञाता प्राणी के चित्त का अंश नहीं है। यदि बौद्ध विज्ञानवादी यह समझते हैं कि मानस ज्ञान का मनोबाह्य हेतु भी प्राणी के ही चित्त में है, तो वे भ्रान्त हैं। किसी हेतु के विना ही प्राणी का चित्त नीलादिज्ञान को कैसे उत्पन्न करता है—यह विज्ञानवादी समझा नहीं सकते। अध्यात्मशास्त्रीय विज्ञानवाद से ही इसकी व्याख्या संगत होती है।

शास्त्र का यह भी कहना है कि जिसकी क्रिया से जिस गुण का बोध चित्त में उदित होता है, उस गुण को उस बाह्य पदार्थ के धर्म के रूप में प्राणी विक्षेप-संस्कार से अभिभूत होकर समझता है। हम 'बाह्य विषय' शब्द भले ही व्यवहार करें, पर उसका तात्पर्य यही है। भूतादिरूप मूल विषय 'बाह्य' विषय नहीं है। भूतादि 'अविषयीभूत बाह्य पदार्थ' है। भूतादि से प्राणी का अबाह्य चित्त उपरंजित होता है और उसके बाद इन्द्रियों की अभिव्यक्ति होकर सूक्ष्म शब्दादि विषयों का ग्रहण होता है। मानस भूतादि की मूलीभूत क्रिया को यदि उसी रूप से ही जाना जाए तो 'बाह्य' भाव का बोध नहीं होगा। इसी दृष्टि से 'विश्व को स्वचित्तान्तर्गत के रूप में–दर्पण

में दृश्यमान नगरी के सदृश—योगी जानता है' ऐसा कहा गया है। वस्तुतः इन्द्रिय और तन्मात्र अविनाभावी हैं।

अध्यात्मशास्त्र मायावाद का भी पोषक है। जो दैशिक विस्तार (*Spatial dimention*) का बोध होता है, वह अयुगपद्भावी पदार्थों को युगपद्भावी के रूप में ग्रहण करने के कारण होता है। अलातचक्र में एक ही अग्निविन्दु रहता है और वह एक क्षण में एक ही स्थान में रहता है, पर उसकी द्रुतगति के कारण वह विन्दु एक चक्र की तरह प्रतीत होता है; पर वस्तुतः वहाँ कोई चक्र नहीं होता। इस प्रकार का अतथ्य दर्शन ही माया है [कोई कोई माया को अतथ्यदर्शन का हेतु कहते हैं]।

पर यदि हमारी इन्द्रियाँ अग्निविन्दु को प्रत्येक पृथक् स्थान में स्थित के रूप में पृथक् कर जान सकतीं, तो चक्राकार अग्नि का ज्ञान कभी न होता। एक अग्निविन्दु की प्रतिक्षण एक एक स्थान में अवस्थिति को हम 'अग्निविन्दु की अविच्छिन्नधारा' रूप चक्र ही समझते हैं। जहाँ कणों का 'सक्रम बोध' होना चाहिये, वहाँ कणों की 'धारा' का बोध होता है। कोई भी समझ सकता है कि प्राणी के चित्त और इन्द्रियों की अशक्ति से ईदृश बोध होता है। जो वस्तुतः जैसा नहीं है, उसको उसी रूप में देखना तथा उस दर्शन का किसी अशक्ति पर निर्भर करना—ये दो तथ्य भौतिक जगत् के बोध में भी कार्य कर रहे हैं। भूतादि मन रूप विश्वोपादान में ग्राह्य विषय रूप शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध नहीं हैं; न ही उस मूल में दैशिक विस्तार है, पर उस देशव्याप्तिशून्य भूतादि मन को हम 'शब्दादिमय दैशिक विस्तारवान् ब्रह्माण्ड' के रूप में जानते हैं। देशव्याप्तिहीन मनोमय पदार्थ को दैशिक व्याप्तियुक्त शब्दादिरूप से जानना ही माया है। यह मायावाद अध्यात्म-शास्त्र द्वारा अनुमोदित है।

आजकल मायावाद का अपव्यवहार सर्वत्र देखने में आता है। चित्त में अविकारी ब्रह्म के स्थान पर जगत्प्रपञ्च का ज्ञान होता है—यही माया है, ऐसी जो व्याख्या आधुनिक मायावादी करते है, वह शास्त्रानुमोदित नहीं है। त्रैगुणिक जगत्प्रपञ्च का उपादान त्रैगुणिक भूतादि है, उस भूतादि का भी

उपादान अस्मिता है, अस्मिता का भी उपादान अव्यक्त प्रकृति है—यही अध्यात्मशास्त्रीय दृष्टि है। देशकालातीत गुणत्रय को देशकालव्यापी पदार्थ के रूप में जानना या मनोमय विश्वमूल को बाह्य परिच्छिन्न द्रव्य के रूप में जानना ही माया है। सृष्टिप्रसंग में उपनिषद् आदि में जो आत्मा या ब्रह्म शब्द प्रयुक्त होता है, उसका अर्थ है—सोपाधिक आत्मा या सगुण ब्रह्म, जो हिरण्यगर्भ नारायण आदि शब्दों से भी कहे जाते हैं। उनका भूतादि मन विश्व का मूल उपादान है तथा उनका संकल्प निमित्त है। इसी दृष्टि से ही ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान है। इस दृष्टि से ही एकमेव ब्रह्म जगत्कारण कहलाता है।

ध्यान देना चाहिये कि ग्राह्यीभूत भूतादि अभिमान को हम अपने चित्त-इन्द्रियादि की प्रकृति के अनुसार जिस रूप से जानते हैं [या भूतादि मन हमारे चित्तादि को जिस रूप से प्रभावित करता है] वही हमारा 'ज्ञेय विश्व' है।[१] विषय का ज्ञानांश हमारी अपनी सृष्टि है [स्वचित्त का परिणाम है], अतः यह कहा ही जा सकता है कि बाह्य विषय वस्तुतः बाह्य रूप से उत्पन्न ही नहीं हुआ। भूतादि अपने परिणाम में प्रतिष्ठित है, उसके संपर्क से प्राणी का चित्त अपने संस्कारादि के अनुसार तन्मात्र-भूत-भौतिक रूप से विषयज्ञान कर रहा हैं। इस दृष्टि से यह कहना संगत ही है कि बाह्य विश्व की वस्तुतः उत्पत्ति नहीं हुई है। अजातवाद की पृष्ठ-भूमि यही अनुभव है; बाद में असाधकों द्वारा यह वाद विकृत कर दिया गया है।

---

१. वर्तमान मनोवैज्ञानिक भी इस तथ्य को समझते हैं। (यद्यपि अध्यात्म-शास्त्र की अन्तर्दृष्टि पूर्णतः उनमें नहीं है), "*We are in all truth so enveloped by psychic images that we cannot penetrate to the essence of things externae to our senses* (*An Introduction to Jung's Psychology, p. 16*). *McDougall* का *Psychic-stimulus theory* के साथ इसकी तुलना करें।

विषय का मूल शून्य (अभाव) है" यह मत भी अध्यात्मशास्त्रानुमोदित है। बाह्य विषय का मूल उपादान बाह्यरूप से प्राप्तव्य नहीं है—यह दिखाया गया है [तन्मात्र का उपादान मानस पदार्थ है]। अतः हम कह ही सकते हैं कि बाह्य विषय का मूल शून्य है, क्योंकि बाह्य रूपसे वह प्राप्त नहीं होता। आधुनिक कुछ वैज्ञानिक भी 'अभाव' से विश्वोपादान के आविर्भाव की बात करते हैं। दृष्टि के प्रसार होने पर उस भावपदार्थ का ज्ञान वैज्ञानिक को हो जायेगा, जिससे विश्व की सूक्षतम वस्तु उद्भूत हुई है।

बाह्य विषय और उसके ज्ञान को इस प्रकार विभिन्न रूपों से विचारने पर उपर्युक्त वादों का स्वाभाविक रूप से ही प्रादुर्भाव होता है।

षष्ठ तन्मात्र की संभावना

जब हम कहते हैं कि ग्राह्यीभूत भूतादि को प्राणी का चित्त पूर्व संस्कार के कारण पांच द्वारों से जानता है [= ज्ञेय रूप से व्यवहार करता है], तो एक प्रश्न उठता है कि यदि प्राणी के पास कोई छठवाँ द्वार (षष्ठ ज्ञानेन्द्रिय) होता तो क्या शब्दादि पांच गुणों के स्थान पर किसी षष्ठ प्रकाश्य गुण का बोध होता? इसका उत्तर अवश्य ही अध्यात्मवादी को देना होगा --यदि षष्ठ ज्ञानेन्द्रिय होती तो षष्ठ बोध भी अवश्य होता।

अध्यात्मशास्त्र का प्रकृत अभिप्राय यह है कि षष्ठ ज्ञानेन्द्रिय का होना संभव नहीं है। यह त्रिगुण के स्वभाव के विश्लेषण से जाना जाता है। त्रैगुणिक पदार्थ की जो भी विकारश्रेणी होगी, वह पांच भागों में ही विभक्त होगी—१ सत्त्वप्रधान, २ सत्त्व-रजः-प्रधान, ३ रजःप्रधान, ४ रजः-तमः-प्रधान और ५ तमःप्रधान। यही कारण है कि अध्यात्मशास्त्र में ग्रहण और ग्राह्य के अन्तर्गत सभी विकार पदार्थ पञ्च-विभाग-युक्त ही दिखाये गये हैं—५ भूत, ५ तन्मात्र, ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ प्राण, ५ भौतिक धर्म [मूर्ति, स्नेह, रश्मि, प्रणामिता तथा निरावरणता], ५ क्लेश, ५ चित्तवृत्ति आदि। इन सबो में गुणत्रय का पूर्वोक्त संनिवेश ही दृष्ट होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस

गन्ध तन्मात्रों में त्रिगुण का पूर्वोक्त क्रमानुसार संनिवेश ही है, यह जाना जाता है। द्र० 'पञ्चभूत' ग्रन्थ

सत्त्वरजः प्रधान और रज.-तमः-प्रधान भेदों की तरह सत्त्वतमःप्रधान कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। अतः षष्ठ तन्मात्र की कोई संभावना नहीं है। गुणत्रय में परस्पर सामान्यविरोध रहने पर भी परस्पर साहचर्य है। पृथक् कर देखने से यह प्रतीत होता है कि क्रियाशील रजः ही प्रकाशशील सत्त्व और स्थितिशील तमः को जोड़ता है; प्रकाश और स्थिति परस्पर इतने विरुद्ध हैं कि इन दोनों का एक स्थान में प्राधान्य संभव नहीं है। यही कारण है कि बुद्धि के रूपों के वर्गीकरण में एक सात्त्विक वर्ग है (धर्म-ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य) और दूसरा तामसवर्ग है (अधर्म आदि); सत्त्व-तमः का एक साथ कार्यकारी प्राधान्य संभव नहीं है।

ग्राह्य भूतादि के सामान्य प्रकाश्यधर्म को प्राणी अपने पाँच चित्तद्वारों से जानता है। श्रवण (कर्ण), स्पर्शन (त्वक्), चक्षु, रसन (जिह्वा), घ्राण (नासिका) रूप पांच द्वार भी यथाक्रम सात्त्विक, सात्त्विकराजस, राजस, राजसतामस एवं तामस हैं। सात्त्विक द्वार से भूतादि के सात्त्विक प्रकाश्य धर्म का जो बोध होता है, वह शब्द है। इसी प्रकार अन्यान्य स्पर्शादि बोधों के विषय में भी जानना चाहिये।

चूंकि बाह्यज्ञान के साधक द्वार पाँच ही होंगे तथा जिसको जाना जा रहा है वह भी पाँच भागों में ही यथायथ रूप से विभक्त होता है, इसलिये बाह्य ज्ञान सदैव पाँच प्रकार का ही होगा (पाँच प्रकार के प्रकाश्य धर्म पुरःसर ही बाह्य ज्ञान होगा)।

बाह्य ज्ञान की अवधि

भूतादि द्रव्य को विषय रूप में पाकर प्राणी उसको ज्ञेय, चाल्य और धार्य रूप से [यथाक्रम ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और प्राण के द्वारा] जो व्यवहार करता है [भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिये] वह व्यवहार तब तक चलता रहेगा जब तक उस रूप से व्यवहार करने का संस्कार प्राणी

में विद्यमान रहेगा। शास्त्र का कहना है कि बाह्य या आन्तर विषयों की समाप्ति कभी नहीं होगी [विषय की उपादानभूत प्रकृति के अमेय होने के कारण], अतः जिसको विषय ज्ञान अभीष्ट नहीं है, उसको इस ज्ञान की निवृत्ति के लिये चेष्टा करनी होगी; **यह चेष्टा ही योगाभ्यास है।** उपनिषद् में इसीलिये कहा गया है कि अमृतत्व की इच्छा रखने वालों को अपनी आँखें बन्द कर लेनी चाहिये (आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्; कठ० २।१।१)। चक्षु (=सभी इन्द्रियाँ अर्थात् इन्द्रियजनित अपारमार्थिक ज्ञान की धारा) को रुद्ध किये विना अमृत रूप आत्मा की उपलब्धि नहीं होती।

शब्दादि विषयों की सूक्ष्मता का निर्धारण बाह्य रूप से नहीं हो सकता। शास्त्र का कहना है कि इन्द्रिय की प्रकृति जितने प्रकार की होगी, उनके अनुरूप विषय भी होंगे। प्रत्येक प्रकार का विषय प्रत्येक प्रकार की इन्द्रिय द्वारा विज्ञेय नहीं हो सकता है।

हम जब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की बात करते हैं तो वहाँ मनुष्य-प्रकृतिवाली इन्द्रिय द्वारा संवेद्य शब्द आदि की बात ही प्रमुख रूपेण करते हैं। स्थूल शब्द, स्पर्श, रूपादि ऐसे भी हैं जो मनुष्य-प्रकृतिवाले कर्ण आदि इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं होते। अग्राह्य होने पर भी वे शब्द आदि स्थूल ही हैं, वस्तुतः सूक्ष्म नहीं हैं (अध्यात्मशास्त्रीय दृष्टि से)।

क्या शब्दादिहीन मनोवृत्ति सम्भव है?

यदि विश्वमूल मन है तथा उस मन से साधारण प्राणी का मन भावित होता है और उससे प्राणी में शब्द-स्पर्शादि का ज्ञान होता है, तब भी यह प्रश्न उठता है कि प्राणी के मन में देशव्याप्तियुक्त शब्द-स्पर्शादि रूप बाह्य ज्ञान न होकर कालव्याप्तियुक्त राग-द्वेष-काम-क्रोध-भय आदि का ही ज्ञान क्यों नहीं होता?

उत्तर स्पष्ट है। भूतादि वह मनोद्रव्य है जो ग्राह्य स्पर्शादि धर्म का मूल है; प्रजापति के मन का एक अंशमात्र भूतादि मन है, जो अंश ग्राह्य

धर्मों का बोधक है। दैशिक धर्म शब्दादि के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। वस्तुतः शब्द स्पर्शादिज्ञान संस्कार-रूप में प्राणी के चित्त में है; बाह्य क्रिया उस ज्ञान का उद्बोधकमात्र है।[१] संस्कार विषयमूल की क्रिया से उद्बुद्ध होता है। अतः प्राणी जभी बाह्य ज्ञान (विस्तार ज्ञान) करेगा तभी वह ज्ञान शब्दादि रूप ही होगा। शब्द-स्पर्शादि चित्तागत ज्ञान हैं; चित्त का ईदृश परिणाम स्वभाव जब तक रहेगा तब तक वह शब्दादि पांच धर्मों का ही ज्ञान होता रहेगा।

इस विषय में अध्यात्मशास्त्र की प्रक्रिया यह है कि ग्राह्यीभूत भूतादि में जो सामान्य प्रकाश्य धर्म है, उसको प्राणी अपने चित्त-इन्द्रिय द्वारा पाँच रूप से ही जानते हैं। सत्त्वप्रधान प्रकाश्यधर्म का ज्ञान जब होता है (कर्ण के द्वारा) तब वह शब्दरूप से ज्ञात होता है; उसी प्रकार सत्त्वरजः-प्रधान प्रकाश्य धर्म का ज्ञान जब होता है तब वह स्पर्शरूप से ज्ञात होता है; तथैव रजः प्रधान प्रकाश्य धर्म का ज्ञान 'रूप' होता है; रजः-तमःप्रधान् रस रूप से होता है; तमः प्रधान गन्धरूप से होता है।

मूल विषय तथा इन्द्रिय का परस्पर संबन्ध नियत है। सत्त्वप्रधान प्रकाश्य धर्म कभी भी रजः प्रधान चक्षुद्वारा संवेद्य नहीं होगा। जो क्रिया तरंग चक्षु में रूप ज्ञान उत्पन्न करता है वह कर्ण में कुछ भी प्रकाश्य बोध उत्पन्न नहीं करेगा।

विषय और इन्द्रिय का यह निकटतम संबन्ध [१] प्रत्याहार के अभ्यास कारी में स्पष्टतया विज्ञान होता है। विषय की मूलीभूत क्रिया से इन्द्रिय का

---

१. विषय और इन्द्रियों के संबन्ध के विषय में 'अथ यो वेदेदं शृणवाणीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम्·······(छान्दोग्य ८।१२।५) वाक्य द्रष्टव्य है। अविषयीभूत मूल वैषयिक क्रिया से श्रवणसंस्कारयुक्त चित्त में कर्ण रूप द्वार उत्पन्न होता है और और द्वार से उस क्रिया को शब्द रूप से जानता है—यह अध्यात्मशास्त्र का मत है। त्रिगुणजात इन्द्रियाँ त्रिगुण जात विषय को ही जान सकती हैं; द्र० गीता ३।२८ गुणा गुणेषु वर्तन्ते।

सक्रिय होना रूप योग्यता को यदि वस्तुतः पूर्णतया स्तब्ध कर दिया जाय तो चित्त के इन्द्रियरूप द्वार चित्त में ही लीन हो जाते हैं। विषयग्रहण की वासना से वासित चित्त ही मूलभूत भूतादि क्रिया द्वारा प्रभावित होता है और पूर्व संस्कारानुसार इन्द्रियों की अभिव्यक्ति होने पर शब्द, रूप आदि का ज्ञान प्राणी करता रहता है। प्रजापति के भूतादि मन में भी शब्द, रूप आदि विषयज्ञान का संस्कार है, अतः संपूर्ण सहज रूप से ही प्राणी में विषयज्ञान उत्पन्न होता है।

तन्मात्रसाक्षात्कार का विभूतिरूप फल

तन्मात्र-साक्षात्कार के साथ त्रिकालज्ञान रूप विभूति का सबन्ध है। अणुतम क्रियाधार रूप क्षण में द्रव्य का जो परिणाम होता है उसे तन्मात्र का साक्षात्कारी स्फुट रूप से जान सकता है क्योंकि तन्मात्र का स्वरूप ही क्षण-व्यापी रूपादि क्रिया है। प्रत्येक द्रव्य में जो परिणाम होता है उसके मूल में यही क्षणव्यापी परिणाम है अर्थात् एक-एक क्षणव्यापी परिणाम ही स्थूलरूप से स्थूल इन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है। चूँकि हम द्रव्य के परिणामों को स्थूल रूप से जानते हैं—सूक्ष परिणामों की एक-एक समष्टि को ही जान पाते हैं, क्षणमात्रव्यापी एक-एक परिणाम को नहीं जान पाते, इसलिये द्रव्यों का आगामी परिणाम कैसा होगा, इसका यथार्थ निर्धारण हम नहीं कर पाते। **क्षणव्यापी परिणाम को पृथक् कर जान सकने पर परिणाम की प्रकति का ज्ञान होता है और इस प्रकार हम किसीका अनागत परिणाम क्या होगा यह भी जान सकते हैं (चित्तस्थैर्यविशेष के बल पर)।**

क्षणव्यापी परिणाम को जानने के बाद किसी एक निश्चित अनागत काल में क्या परिणाम-अवस्था होगी—यह अनुमान से भी बहुत दूर तक जाना जा सकता है; कुशलताप्राप्त योगी इस अनागत परिणाम का साक्षात्कार भी कर सकता है। साक्षात्कार का अर्थ है—'उदित धर्म के रूप में जानना'; अर्थात् अनागत परिणाम को 'वर्तमान परिणाम'के रूप में जानना। अध्यात्म-

शास्त्र दिखाता है कि ज्ञानशक्ति की अपटुता के कारण ही हम अनागत-वर्तमान रूप भेद करते हैं। यह अपटुता यदि न रहे तो किसी अनागत धर्म को उसके उदित होने से पहले ही साक्षात् जाना जा सकता है—यह सुतरां सिद्ध होता है। **इस प्रकार** अनागत धर्म का **साक्षात् ज्ञान उदित होने के कारण ही यह माना जाता है कि वस्तु के अनागत धर्म सूक्ष्मरूप से वस्तु में विद्यमान रहते हैं;** इसी प्रकार अतीतधर्म भी वस्तु में सूक्ष्मरूप से रहते हैं।

वस्तु के अतीत-अनागत धर्म के इस प्रकार सूक्ष्मरूपेण रहना रूप मत अध्यात्मशास्त्र की एक मौलिक दृष्टि है; इसे सत्कार्यवाद कहा जाता है। **अतीत-अनागत परिणामों को वर्तमान परिणाम की तरह चूंकि जाना जा सकता है, इसलिये ही सत्कार्यवाद माना जाता है।** कार्य अपने उपादान कारण में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है और उपयुक्त निमित्त से सूक्ष्म जब मूर्त स्थूल होता है, तभी यही प्रकटीभाव कार्य कहलाता है।

संयम के बल पर तन्मात्र पर जय प्राप्त किया जा सकता है। शब्द आदि गुणों को इच्छा बल से परिवर्तित करने की क्षमता तन्मात्रजय से होता है। तन्मात्रवशित्व होने पर नील को पीत **एवं** पीत को लाल—इस रूप से परिवर्तित करने की शक्ति होती है।[1]

चित्तस्थिरता के अनुसार तन्मात्र के साक्षात्कार होने पर द्रव्य के अतीत और अनागत परिणामों का ज्ञान किया जा सकता है। यह ज्ञान एक तथ्य है। **यह जानना चाहिये कि यदि अतीत अनागत ज्ञान नहीं है तो तन्मात्रज्ञान की सत्ता भी नहीं है।** यह द्विविध ज्ञान अविनाभावी हैं।

---

१. वर्तमान विज्ञानशास्त्र का चतुर्थ परिमाण (Fourth dimention) अर्थात् कालव्यापी परिणाम इस तन्मात्रतत्त्वज्ञान की ओर जा रहा है। क्षणव्यापी ज्ञान होने के कारण तन्मात्रज्ञान 'विस्तारशून्य ज्ञान' है, यह पहले कहा गया है। 'पञ्चभूत तथा बाह्य विस्तार', ग्रन्थ में इस पर विशेष विचार किया गया है।

(तन्मात्र ज्ञान होने पर अतीतानागत ज्ञान अवश्य होगा यदि उचित रीति से इस ज्ञान का प्रयोग किया जाय)।

अतीत-अनागत ज्ञान के विचार में कुछ सावधानी रखनी है। बात यह है कि अतीत परिणाम की अवधि नहीं है। उसी प्रकार अनागत परिणाम की भी अवधि नहीं है (सीमा न रहने के कारण)। अत एव 'अतीत परिणाम के ज्ञान' का अर्थ है—कुछ काल तक के अतीत परिणामों का ज्ञान। 'अनागतपरिणाम-ज्ञान' का भी ऐसा ही तात्पर्य है। चित्तस्थैर्य के उत्कर्ष के अनुसार ज्ञान की यह अवधि बढती रहती है, पर चूंकि चित्त सम्यक् मलहीन नहीं हो सकता, इसलिये अवधिहीन अतीत-अनागतज्ञान नहीं होते।

दूसरी बात यह है कि यह अतीत-अनागत ज्ञान वर्तमानज्ञान की तरह उदित होता है। जिस प्रकार बैरोमीटर यन्त्र में ताप को देखकर उसके आधार पर अनागत आँधी, वृष्टि आदि का ज्ञान किया जाता है, अतीत अनागत ज्ञान वैसा अन्य-पदार्थ-आश्रित ज्ञान नहीं है। इस ज्ञान में अतीत परिणाम एवं अनागत परिणाम वर्तमान (उदित) परिणाम की तरह ज्ञात होते हैं।

वर्तमान परिणाम की तरह उदित होने पर भी बाद में प्रक्रिया विशेष के बल पर संयमी यह कह सकता है कि अयोगी साधारण व्यक्ति अपनी मन्द ज्ञानशक्ति के अनुसार उस परिणाम को कितने काल बाद प्रत्यक्षरूप से जान सकेगा।

एक व्यक्ति के लिये जो उदित (वर्तमान रूप में ज्ञात) परिणाम है वह अन्य के लिये अनागत परिणाम होता है—यह सहसा विश्वास नहीं होता, पर विचार करने पर इसकी सत्यता जानी जा सकती है। स्वतन्त्रग्रन्थ में इस तथ्य की सत्यता पर विचार किया जायेगा।

उपसंहार

तन्मात्र का स्वरूपविचार समाप्त हो गया। तन्मात्र के साथ आनुषङ्गिक रूप से निम्नोक्त विषय भी ज्ञातव्य हैं--

(१) सृष्टिप्रक्रिया में तन्मात्र का जन्म; (२) प्रलयप्रक्रिया में तन्मात्र का लय, (३) तन्मात्र में एकोत्तरगुण-दृष्टि अर्थात् शब्दतन्मात्र में केवल शब्द, स्पर्शतन्मात्र में शब्दस्पर्श—इस प्रकार गन्धतन्मात्र में शब्द-स्पर्श आदि पाँच गुणों की स्थिति; (४) तन्मात्र में गुणगुणी का सम्बन्ध; (५) काठिन्य, तारल्य, रश्मिता, प्रवहणशीलता और निरावरणवद्भाव रूप पाँच धर्मों के साथ तन्मात्र का सम्बन्ध; (६) तन्मात्र के साथ देश-कालबोध का सम्बन्ध।

उपर्युक्त विषयों का प्रकृत सम्बन्ध पञ्चभूत से तथा भौतिक सृष्टि से है; तन्मात्रतत्त्व से इन विषयों का जो सम्बन्ध है, वह ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अभिहित हुआ ही है। हम भूततत्त्वसम्बन्धी ग्रन्थ में इन विषयों का विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे। यहाँ संक्षेप में कुछ विशिष्ट बातें कहकर ग्रन्थ को समाप्त किया जाता है—

यद्यपि तन्मात्र भूत का उपादानकारण है, पर ऐसा नहीं समझना चाहिये कि तन्मात्रसृष्टि हो चुकने के बाद (कुछ कालानन्तर) भूततत्त्व की सृष्टि होती है। ब्रह्माण्डसृष्टि आदि से अन्ततक भौतिक है; ब्रह्माण्ड का अर्थ है--भूर्लोक से सत्यलोक पर्यन्त (भूर्लोक में पातालादि का अन्तर्भाव कर) विस्तार। ये सब लोक पाञ्चभौतिक (=भौतिक) हैं क्योंकि इनके निवासियों में बाह्य ज्ञान रहता है तथा इनके भौतिक शरीर भी होते हैं। इस पाञ्चभौतिक ब्रह्माण्ड में योगशास्त्रोक्त कौशल से पञ्चभूत एवं पञ्चतन्मात्र का साक्षात्कार किया जा सकता है, जिसका फल है--बाह्य विषयों के प्रति प्रकृत वैराग्य।

एक-एक तन्मात्र एक-एक प्रकाश्य गुण का ही गुणी है। तथैव एक-एक भूत एक-एक गुणजाति की एक-एक समष्टिमात्र है। **पर भौतिक ब्रह्माण्ड का विभाग अन्य प्रकार से भी किया जाता है;** यह भी भौतिक का भौतिक में विभाग है। इस मत में कहा जाता है कि वायुभूत में शब्द-स्पर्श हैं, तेजोभूत में शब्द-स्पर्श-रूप हैं। इस प्रकार का एकोत्तरगुण-विभाग किया गया है। तन्मात्र के साथ ईदृश गुणविभाग का कोई सम्बन्ध ही नहीं है, पर तन्मात्रज्ञान के निमित्त की दृष्टि से इस विभाग को तन्मात्र पर भी लागू

किया जाता है। व्यवहारतः इसकी कुछ उपयोगिता-मात्र है। शब्द कभी भी स्पर्श का उपादान नहीं होता, इसी प्रकार स्पर्श रूप का उपादान नहीं होता, अतः एकोत्तरगुण-वाला मत उपादान दृष्टि से नहीं है--निमित्त दृष्टि से है; द्र० पञ्चभूतसम्बन्धी ग्रन्थ।

भूत-तन्मात्र-विभाग ज्ञानेन्द्रियमात्रवेद्य है; यह ज्ञेयधर्ममूलक विभाग है। काठिन्य, तारल्य आदि जाड्यधर्म (जिसके लिये शरीरधारी जीव की कर्मेन्द्रियाँ अपेक्षित हैं) के अनुसारी भी एक विभाग है, पर तन्मात्र में यह दृष्टि प्रयोज्य नहीं है। काठिन्यादि अतात्त्विक धर्म हैं--आपेक्षिक भी हैं। एक जातीय प्राणीके लिये जो शब्द है वह सर्वप्रकार प्राणी के लिये शब्द है, चाहे उसके बोध में कितना ही तारतम्य क्यों न होता हो।

ब्रह्माण्ड के सृष्टि-प्रलय का शास्त्रीयव र्णन बहुलांश से भौतिक आकाश, वायु, तेज, अप् और पृथिवी का है। भौतिक आकाश, भौतिक वायु आदि तत्त्व नहीं हैं। भौतिक आकाश में पाँचों शब्दादिगुण हैं--उसमें निरावरणभाव की प्रधानता है। प्रजापति का भूतादिमन जब ग्राह्यीभूत होता है, तब यह भौतिक आकाश (भूततत्त्व से पृथक्) आविर्भूत होता है। यह भौतिक आकाश केवल भूलोक में ही है, ऐसा नहीं; भुवः, स्वः आदि लोकों में भी यह आकाश है। **पाञ्चभौतिक विषयों के स्वरूप एवं विस्तार की सूक्ष्मता का अत्यल्पमात्र परिज्ञान वर्तमान वैज्ञानिकों को हुआ है।** इस पाञ्चभौतिक आकाश का ही उचित हेतु से स्थूलभाव होता रहता है और क्रमशः वायवीयभाव, आग्नेयभाव, जलीयभाव और पार्थिवभाव प्रकट होते हैं। ये पाँच पाञ्चभौतिक भाव कर्मेन्द्रियों एवं पञ्चप्राणों के व्यवहार्य विषय होते हैं। **इन वायवीय, आग्नेय आदि भावों को पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, ग्रहादि मात्र से सम्बन्धित जानना अध्यात्मशास्त्रीय दृष्टि नहीं है**; नरकादि लोकों में तथा भुवः, स्वः आदि लोकों में भी ये पाञ्चभौतिक भाव हैं। प्रत्येक पारलौकिक शरीर, दैव-नारक शरीर आदि पाञ्चभौतिक हैं। इन पाञ्चभौतिक भावों का ही एक स्थूलतम भाव हमारे व्यवहार्य पृथिवी-चन्द्र-सूर्य से **सम्बद्ध** सौरजगत् है। भुवः आदि लोकों की सृष्टि में तदुपयोगी

भौतिक उपादान की क्रमिक सृष्टि कैसे हुई—इस विषय का पृथक् वर्णन शास्त्रों में शायद ही मिलता हो; व्यवहारतः अनावश्यक समझकर यह विषय छोड़ दिया गया है (सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति इसको उपायविशेष से जान लेंगे ऐसा समझकर); पर भूलोक की उत्पत्ति पर विशिष्ट बातें इतिहास-पुराण में मिलती हैं। नवीनतम प्रयोग द्वारा ज्ञात universe की परिधि इस भूर्लोक का एक स्थूल बाह्य अंश है; सम्पूर्ण भूर्लोक एक स्थूल स्तरविशेष है पर पूर्णरूप से यह लोक भी हमारे द्वारा व्यवहार्य लोहा-कांच-रश्मि आदि से निर्मित यन्त्रों की सहायता से लक्षित नहीं हो सकता।

जिस 'सृष्टि' की विस्तृति (देशतः और कालतः) अपरिमेय जान पड़ती है, वह हमारी करणशक्ति के अनुसार ही है। **सृष्टिकारक प्रजापति की दृष्टि से इस ब्रह्माण्डसृष्टि का परिमाण उनके महान् मन की एक वृत्ति का स्थितिकाल ही है** अर्थात् सृष्टि-संकल्प को व्यक्त होकर रुद्ध होने में जो काल लगता है (हमारी दृष्टि से इस कालपरिमाण की कोई कल्पना नहीं हो सकती) वही ब्रह्माण्डस्थिति का काल है। एक सृष्टि के बाद पुनः अन्य सृष्टि—इस प्रकार का क्रम सदैव चलता रहेगा और हम असिद्ध प्राणी सृष्टिकर्त्ता के अन्तःकरण के परिणामों को अपनी योग्यता के अनुसार नाना प्रकार से जानते रहेंगे और अपने संस्कार के अनुसार आकृष्ट होकर किसी न किसी ब्रह्माण्ड में विद्यमान रहेंगे।

'धर्म-धर्मी'-परक दृष्टि (प्रकाश्य-कार्य-धार्यधर्मों के धर्मी) तब तक रहेगी जब तक ज्ञाता चित्त देश और काल का आश्रय कर अपनी संकुचित दृष्टि से बाह्य ज्ञान करता रहेगा। ज्ञायमान गुण के पीछे सूक्ष्म अज्ञात भाग है—यह मनोवृत्ति जब तक रहेगी तब तक धर्म-धर्मि-दृष्टि अवश्य रहेगी। भूतादि मन के अधिगम होने पर यह दृष्टि (बाह्यविषय में) समाप्त हो जाती है।

नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः

———

डा० रामशंकर भट्टाचार्य का

विद्वत् प्रशंसित अनुसन्धानग्रन्थ

निद्रा या सुषुप्ति

(अध्यात्मशास्त्रीय विश्लेषण)

मूल्य एक रुपया

ग्रन्थ में विचारित विषय ये हैं—

निद्रा का प्रभाव और उपादेयता; निद्रा कोई अज्ञात अवस्था नहीं है; निद्रा का परिचय; निद्रा का चित्तवृत्तित्व; वृत्ति के स्वाभाविक कार्य; निद्रा की तामसिकता; निद्रा का आवर्तन; निद्रा के भोगकाल का तारतम्य; चित्त-रूप धर्मी का निद्रारूप धर्म; निद्रा का आलम्बन; निद्राकालीन ज्ञातृत्व; निद्रा-कालीन अनुभव की प्रकृति; निद्राकालीन सुखबोध; निद्राकालीन अपीतावस्था; प्राण की जड़ता; निद्राकालीन अभिभव; शारीरिक क्लान्ति; निद्रा और शरीर; निद्राकाल में मन की स्थिति; निद्राभंग; निद्रा की उत्पत्ति और नाश; निद्रा की पूर्णता और सापेक्षता; निद्रा के भेद; विभिन्न प्रकार के जीवों की निद्रा; निद्रारोध; समाधि से निद्रा का भेद; शरीरधर्मरूप निद्रा; निद्राकालीन विशिष्ट घटनाएँ; निद्रा की सदृश स्थितियाँ; निद्रातीत अवस्था।

———

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आपने जो कुछ भी लिखा है, हमारी प्राचीन दार्शनिक दृष्टि से ठीक बैठता है और आपने बहुत अच्छी तरह से सुषुप्ति के अन्यान्य अंगों को स्पष्ट किया है।

डा० अरविन्द वसावड़ा
मनोविज्ञान-विभागाध्यक्ष,
जोधपुर विश्वविद्यालय

१४।१।७०

A thought-provoking book which deserves to be translated into several languages—Advent, Feb 70

(प्रकाशक—दि एस्ट्रोलॉजिकल रिसर्च हाल, हौजकटरा, वाराणसी)

डा० रामशंकर भट्टाचार्य-प्रणीत

तपोमय भारत

संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, धर्मसूत्र, स्मृतिग्रन्थ, पुराण, उपपुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में कथित तपस्याओं का प्रामाणिक विवरण।

तपस्या का पूर्णाङ्ग परिचय, तपकारी का निर्देश, तपस्याजात फल तथा अन्यान्य आनुषङ्गिक बातें इस ग्रन्थ में दी गई हैं। इसमें अनेक ऐसी तपस्याओं के उल्लेख हैं, जो अब अज्ञातप्राय हैं।

ग्रन्थ की तपस्यासंबन्धी भूमिका प्रत्येक भारतविद्याप्रेमी के लिये अवश्य पाठ्य है। भयग्रस्त, लोभातुर, निर्वीर्य, तेजोहीन तथा वाक्यशूर भारतवासी के उत्थान के लिये यह तपस्याग्रन्थ मार्गदर्शक का कार्य कर सकता है। शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण आदि की शक्ति के संरक्षण का मार्ग इस ग्रन्थ से जाना जा सकता है।

(ग्रन्थ अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं में एक साथ प्रकाशित होगा)

एस्ट्रोलॉजिकल रिसर्च हाल के

दो प्रतिवार्षिक प्रकाशन

१. संक्षिप्त गृहस्थ पंजिका (बंगला)
(मूल्य ८० पैसे) (सन् १३७७ साल)

२. संक्षिप्त गृहस्थ पंचाङ्ग (हिन्दी)
(मूल्य ६० पैसे) (विक्रम २०२७)

डा० रामशंकर भट्टाचार्य-कृत

ईश्वरता का विश्लेषण

(सांख्य-योगीय दृष्टि)

ईश्वर, सृष्टिकर्त्ता, सर्वज्ञ-सर्वव्यापी पुरुष, शक्तिशाली देव, विभूतिमान् महापुरुष आदि शब्द सभी धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रचलित हैं; ये शब्द इन सम्प्रदायों में परस्पर कटु विवाद के भी हेतु हुये हैं। विरोधी का नाश, नास्तिक की हत्या, परराज्यग्रास आदि के लिये भी ईश्वर या महापुरुषों का नाम लिया गया है—यह ऐतिहासिक सत्य है। सभी लोग ऐसा सोचते हैं कि ईश्वर का नाम लेकर सभी कुछ कहा या किया जा सकता है तथा ईश्वर में सर्वविध गुणकर्मों की सत्ता मानी जा सकती है। जिसको जो भी 'उच्च' या 'अच्छा' लगता है, वह ईश्वरता में उसका अन्तर्भाव कर लेता है और दूसरे को अनीश्वरवादी, नास्तिक, ईश्वरतत्त्वज्ञान में अज्ञ आदि कहते रहते हैं।

यह स्थिति हेय है। सांख्यशास्त्र कहता है कि ईश्वर या ईश्वरतारूप विभूति के विषय में इच्छानुसार सब कुछ कहा नहीं जा सकता; सांख्य की यह उदात्त दृष्टि उसकी "ईश्वरासिद्धेः" सूत्र में अभिव्यक्त हुई है। ईश्वर के विषय में सभी कुछ कहा जा सकता है—ऐसी दृष्टि के कारण ही ईश्वर का नाम लेकर दूसरों पर अत्याचार करना या दुराचरण करना सरल हो गया है। इस वैज्ञानिक युग में ईश्वरता पर विचार होना चाहिये—ईश्वरता है क्या, उसके उपादान-निमित्त क्या हैं, उसके कितने प्रकार हैं, उसके कार्य कौन-से हैं...... इत्यादि

यह ग्रन्थ प्रचलित सभी ईश्वरवादी सम्प्रदायों में विद्यमान भ्रान्त दृष्टियों तथा अन्धविश्वासों को नष्ट करेगा; साथ ही यह भी प्रमाणित करेगा कि ईश्वर के विषय में अज्ञानपूर्ण धारणा ही नास्तिकता की जनक है। हम ईश्वरता के विषय में अज्ञ रहकर 'भक्त' या 'ज्ञानी' नहीं हो सकते।

प्रत्येक चिन्ताकारी मनीषी को इस ग्रन्थ की युक्तियों का परीक्षण करना चाहिये। विभूति के विषय में अज्ञता के कारण लोग धूर्तों से ठगे जाते हैं—यह दुःखद स्थिति भी इस ग्रन्थ के पाठ से विदूरित होगी।

———

डा० भट्टाचार्य का नवीन ग्रन्थ

पञ्चभूत तथा बाह्य विस्तार

'भूततत्त्व' ज्ञेय एवं व्यवहार्य ब्रह्माण्ड के अध्यात्मशास्त्रीय विश्लेषण का प्रथम स्तर है। अध्यात्मशास्त्रोक्त इस भूततत्त्व का स्वरूप न जानकर अज्ञ आलोचकों ने भूततत्त्वज्ञान का खण्डन करने की जो चेष्टा की है, उसका निराकरण करना इस ग्रन्थ का एक उद्देश्य है। बाह्य विषयों का विश्लेषण व्यावहारिक दृष्टियों से भी भारतीय आचार्यों ने किया था। इन व्यवहारोपयोगी भूत-विभागों से अध्यात्मशास्त्रीय भूतविभाग अत्यन्त पृथक् है। अनभिज्ञ एवं असाधकों से भूततत्त्व के विषय में सुनकर लोग पञ्च भूत का सम्बन्ध पृथ्वीपिण्ड, चन्द्रमा, सूर्य, नेबूला आदि से ही समझते हैं—यह सर्वथा भ्रान्त दृष्टि है। दैशिक विस्तार जहाँ तक है, वहाँ तक पञ्च भूत की स्थिति है; जब तक बाह्यज्ञान अस्फुटरूप से भी रहेगा, तब तक भूत की सत्ता रहेगी। यह भूत सूक्ष्म लोकों—भूः भुवः स्वः आदि लोकों—में भी विद्यमान है। स्थूल, सूक्ष्म आदि सर्वविध शरीर इन पाँच भूतों से ही बनते हैं। भूततत्त्व के इस व्यापक रूप को न समझकर आधुनिक व्याख्याकारों ने इस भूततत्त्वज्ञान को विपर्यस्त कर दिया है। यह ग्रन्थ इस विपर्यय का दूरीकरण करेगा; साथ ही आर्षज्ञान को प्रतिष्ठापित करने में यह ग्रन्थ परम सहायक होगा।

भौतिक विज्ञान एवं आर्ष प्रज्ञा के प्रेमी पाठक इस ग्रन्थ को अवश्य पढ़ें तथा सत्यासत्य का विवेक करें।

डा० रामशंकर भट्टाचार्य का नवीन ग्रन्थ

संस्कार : चित्त का अज्ञात भाग

ज्ञान, चेष्टा और संस्काररूप तीन धर्मों से युक्त चित्त ही प्राणी का प्रकृतरूप है (व्यवहारदृष्टि से)। इन तीन धर्मों में परस्पर निगूढ सम्बन्ध है, जिसका फल यह होता है कि प्राणी का न ज्ञानक्षेत्र ही पूर्णतया उसका अधीन रहता है, न चेष्टाक्षेत्र ही। ज्ञान-चेष्टा की साधक इन्द्रियों एवं मानस क्षेत्र से सम्बन्धित इच्छा, संकल्प, राग-द्वेष आदि की जो क्रीड़ा निरन्तर चल रही है, उस क्रीड़ा का प्रकृत स्वरूप और हेतु को जाने विना प्राणी कभी भी अभीष्ट सुख की प्राप्ति या अनभीष्ट दुःख की निवृत्ति नहीं कर सकता। प्राणी के जीवन पर संस्कार का प्रभुत्व वर्तमान मनोविज्ञान में भी स्वीकृत है; पर मनोविज्ञानी संस्कार के बाह्य रूप को ही अभी तक समझ पाये हैं। मनके उपादान कारण का स्वभाव जाने विना संस्कार के कारण-कार्य का सूक्ष्म एवं पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। अध्यात्मतत्त्वदर्शी ऋषियों ने इस संस्कार के स्वरूप को पूर्णतः खोल दिया है। इस तत्त्वज्ञान का अधिगम करने वाले 'स्वराट्' कहलाते हैं। इस ज्ञानगौरव को जानने के इच्छुक व्यक्ति को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिये! अध्यात्मवादियों के मनोविश्लेषण की तुलना में आधुनिक मनोविज्ञान के विकसित रूप की स्थिति वस्तुतः कैसी है-इसका परिज्ञान भी इस ग्रन्थ से हो जायेगा।

———

An epoch-making work of

Dr. R. S. Bhattacharya

HISTORY OF YOGAVIDYA

(2 Volumes ready for press.)

(I) PURANIC RECORDS ON YOGA AND YOGINS

Four chapters; more than 400 pages

Chap. I Authenticity and value of the Puranic Records on Yoga

" II Glory, importance and influence of Yoga

" III Yoga and its schools

" IV Yogins : their works and teachings

Purana includes the Upapuranas and the Epics)

(II) YOGIC PRACTICES IN THE PURANAS

Four chapters; more than 400 pages

Chap. I The Yogangas

" II The means (upayas) of Yoga

" III The supernormal powers

" IV Philosophical considerations underlying Yoga practices.

(Purana includes the Upapuranas and the Epics)

The Bhagavad–Gita

With the commentary Jyotismati

by Dr. Ram Shankar Bhattacharya

This new commentary on the Bhagavad-Gita attempts to explain all important expressions in the Gita with the help of pre-Gita literature and of ancient authors who were familiar with the doctrine of adhyatmavidya. It hardly takes any help rfom the interpretation of other Gita commentators, ancient or modern, including those written by saints and founders of Sampradayas. In interpreting the text, it notes parallels (either of word or sense) in the Smrti, Dharmasastra, Itihasa-purana Upanisad, Agama and allied literature. The purport of many ambiguous Gita verses can be ascertained through consideration of the prakaranas of these parallels.

It is apparent that the author of the Gita imbibed views from various schools of adhyatmavidya and that he was trying in the Gita to present the most important adhyatmavidhya doctrines in a popular, lucid form.

As a popular work the Gita does not generally present the doctrines of adhyatmavidya in a comprehensive form or with the precision and discipline that are characteristic of formal philosophical discourse

It is this looseness of expression, together with certain exaggeration, that enabled later Sampradayas to give radically differing interpretation of the Gita. A reader who does not possess a thorough knowledge of the ancient tradition of adhyatmavidya certainly cannot avoid being confused by certain Gita passages.